अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन का द्वितीय पुष्प

दिव्यालोक

स्मारिका - 79

प्रधान सम्पादक :

अखिल बंसल, एम० ए०

सम्पादक मण्डल :

प० जतीशचन्द्र शास्त्री
प० अभयकुमार शास्त्री
ब्र० अभिनन्दनकुमार शास्त्री
परमात्म प्रकाश भारिल्ल

प्रकाशक :

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन

टोडरमल स्मारक भवन
ए-4 बापूनगर, जयपुर-302004

मुद्रक :
कपूर आर्ट प्रिण्टर्स,
जयपुर।

अ० भा० जैन युवा फैडरेशन के उद्देश्य

१ युवावर्ग में धर्म के पति रुचि जाग्रत करना ।

२ सत् साहित्यका प्रकाशन कर तत्त्व–प्रचार में सहयोग देना ।

3 गाँव–गाँव में पाठशालायें एव पुस्तकालय स्थापित कर धर्म के प्रति जागृति उत्पन्न करना ।

४ सत् साहित्य विक्री केन्द्रों एव जैन बुक बैंको की स्थापना करना ।

५ समाज के चतुर्मुखी विकास हेतु पयत्नशील रहना ।

६ स्वयसेवकों को सगठित कर सामाजिक विकास कार्यों के लिए प्रेरित करना ।

७ समाज में व्याप्त कुपथाओं का खण्डन कर एकता स्थापित करना ।

८ देहेजप्रथा एव बेरोजगारी के उन्मूलन हेतु प्रयास करना तथा सामाजिक उत्थान के लिए अन्य उपयोगी कार्य करना ।

९ विभिन्न कार्यकमों द्वारा समाज में आदर्श पस्तुत करना ।

10 सदाचार से युक्त नैतिक जीवन विताने की प्रेरणा देना ।

सदस्यता —

दिगम्बर जैन धर्म के पति श्रद्धा रखने वाले प्रत्येक युवक–युवतियाँ जिनकी आयु १५ से ४० वर्ष के बीच होगी, इस फैडरेशन के सदस्य बन सकते हैं ।

फैडरेशन का प्रवेश शुल्क मात्र एक रुपया है ।

अन्तर दर्शन

प्रकाशकीय

अखिल भातीय जैन युवा फैडरेशन अपनी स्मारिका दिव्यालोक का द्वितीय पुष्प भेट करते हुए हर्ष का अनुभव कर रहा है। 'दिव्यालोक' फैडरेशन की स्मारिका ही नही अपितु उसका प्राण तत्त्व है साधना-पथ है, साधना ही नही वरन साध्य है।

जगत स्वभाव ही आलोक का उपासक है। भौतिक आलोक की चकाचौध से क्लान्त जगत अब दिव्यालोक की खोज मे भटक रहा है। जैसे-जैसे भौतिक उपल-ब्धियो का आलोक सघन हो रहा है जीवन मे सुख और शांति के मापदण्ड भी बदल रहे है। कचन-कामिनी एव कनक के उपासक जगत को आवश्यकता है 'दिव्यालोक' की।

दिव्यालोक के इस अनुसंधान यज्ञ मे युवा साथी भी आगे आए इस पवित्र उद्देश्य से पल्लवित एव पुष्पित युवा फैडरेशन अब ३ वर्ष का शिशु हो गया है।

हमारे तीर्थंकरो और सन्तो ने निज चैतन्य लोक में विचरण कर जगत को जिस दिव्यालोक से आलोकित किया वह आलोक आज भी जिनागम की मजबूत तिजोरी मे सुरिक्षत है। स्याद्वाद की कुंजी से ही जिनागम के रहस्य खोलकर हम सब आलोकित हो सकते हैं अत जिनागम मे अवगाहन के हेतु उसके पठन-पाठन के प्रचार-प्रसार हेतु शिक्षण शिविर, पाठशाला, आदि गतिविधियो को फैडरेशन द्वारा अपनाया जाना स्वाभाविक ही है।

स्मारिका तो इस आलोक पुज का एक छोटा सा विन्दु है। नवीन लेखको के विचारो को आलोकित करना इसका प्रमुख दृष्टिकोण रहा है। लेखकगण यद्यपि लेखन कार्य मे नवीन हैं परन्तु 'दिव्यालोक' के मूल स्रोत जिनागम के रहस्यो से सु-परिचित हैं, एतदर्थ विपुल सामग्री-समूह मे से इन्ही लेखो का चयन किया गया है। स्थान की कमी, रचना की विलम्ब-प्राप्ति आदि कारणो से भी कुछ साथी वचित रह गए है।

दिव्यालोक परिवार सभी रचना प्रेषको के प्रति आभार व्यक्त करता हुआ आशाव्यक्त करता है कि मोह-तिमिर से ग्रस्त जगत को आलोकित करने मे यह स्मा-रिका आलोक-किरण सिद्ध होगी।

सयोजक—साहित्य प्रकाशन समिति अ० भा० जैन युवा फैडरेशन

ए-४ बापूनगर, जयपुर (राज०)

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन द्वारा प्रकाशित 'दिव्यालोक' स्मारिका का द्वितीय पुष्प अपने सुधी पाठको के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। विगत वर्ष दीपावली के पुनीत अवसर पर प्रति वर्ष इस स्मारिका के प्रकाशन हेतु बीजारोपण किया था। बीज का प्रस्फुटन हुआ और उसके अकुर के रूप मे यह अक आपके हाथो मे है। गतवर्ष की स्मारिका को पाठको ने बहुत पसद किया फलत वह हाथो हाथ बिक गई और अनेक भाईयो को निराश होना पडा, यह प्रकाशन की सफलता का द्योतक है। आप सभी ने इसकी उपयोगिता को जाना-पहिचाना है इसके लिए मैं सभी पाठको का हृदय से आभारी हूँ।

प्रत्येक व्यक्ति के विचारो मे विभिन्नता होना स्वाभाविक है और जैन समाज भी इसका अपवाद नही है। समाज मे सदियो से वैभिन्य चला आ रहा है और नए-नए विषयो की शोध-खोज के लिए यह स्वतत्र चिंतन प्रक्रिया आवश्यक भी है। परन्तु कुछ लोग अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति हेतु इस विचार वैभिन्य का दुरुपयोग करके समाज मे कोई न कोई आन्दोलन-अभियान आदि चलाते रहते है।

विगत अनेक वर्षों से जैन समाज मे कोई न कोई आन्दोलन चलता ही रहा है। अनेक प्रकार के पथ एव विचारधाराऐ प्रचलित हैं। इन विचारधाराओ को जबरदस्ती एक दूसरे पर थोपने की कोशिश मे आज समाज मे अशाति एव सघर्ष का वातावरण बना हुआ है।

कुछ करने की आकाँक्षा वाले युवा वर्ग का इस विषम स्थिति से चिन्तित होना स्वाभाविक है। इस स्थिति को दूर करने के उपायो पर विचार विमर्श हेतु सन् १९७५ मे खुरई मे सारे देश के गणमान्य विद्वानो, श्रीमानो एव युवा कार्यकर्त्ताओ का सम्मेलन आयोजित किया गया।

दो दिनो तक गम्भीर विचार विमर्श के दौरान यह अनुभव किया गया कि समाज मे विभिन्न उद्देश्यो से प्रेरित अनेक सगठन तो है ही परन्तु देव शास्त्र-गुरु मे आस्थावान ऐसा कोई युवा सगठन नही है जो प्रचलित विचारधाराओ को तर्क की

कसौटी पर कसकर स्वस्थ चिन्तन एवं आगम सम्मत विचारधारा को प्रोत्साहित कर सके ।

उक्त स्थिति को देखते हुए यह निर्णय किया गया कि जैन समाज के नव-युवको को इस प्रकार सगठित किया जाए कि वे एक सूत्र मे बन्धकर जिनागम के सभी पहलुग्रो को स्वय समझ सके एव समाज मे उसका प्रचार करके स्वस्थ पर-म्पराग्रो को प्रोत्साहित कर सके ।

सम्मेलन मे पारित उक्त प्रस्ताव से प्रेरित होकर मुझे प्रेरणा मिली कि यह कार्य अवश्य होना चाहिए और मैने श्री कमलकुमार सोगानी एव भाई परमात्मप्रकाश जी भारिल्ल को अपने विचारो से अवगत कराया। उन्हे विचार बहुत अच्छा लगा। फलत सभी के सहयोग से मैने 'अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन' के नाम से इस सस्था का गठन कर डाला। प्रारम्भ से कुछ कठिनाईयो के बावजूद यह सगठन दिनो-दिन प्रगति करता रहा और अपनी मजिल की ओर अग्रसर होता रहा। कुरावड मे सन् १९७८ मे हुए अधिवेशन के अवसर पर श्री पन्नालालजी गगवाल, दिल्ली, फैडरेशन के सरक्षक तथा डॉ० हुकमचदजी भारिल्ल जयपुर, परामर्शदाता बनाए गए। श्री राजकुमारजी एडवोकेट, विदिशा को अध्यक्ष तथा मुझे महामत्री चुना गया। इसके बाद ही फैडरेशन का कार्य-क्षेत्र तेजी से वृद्धिगत होने लगा।

इस वर्ष ब्र. जतीशचन्दजी को फैडरेशन का अध्यक्ष चुना गया है जिनके मार्ग-दर्शन एव कुशल निर्देशन मे फैडरेशन अपनी गतिविधियाँ सचालित कर समाज मे ठोस कार्य कर रहा है।

अब तक तीन वर्ष के अल्पकाल मे इसकी लगभग १५५ शाखाये गठित हो चुकी है। स्थान-स्थान पर युवा वर्ग मे धर्म के प्रति रुचि जागृत करने के उद्देश्य से शिक्षण-शिविरो का आयोजन किया जाता है, युवा विद्वानो को अष्टान्हिका पर्व पर विभिन्न स्थानो पर भेज कर तत्व प्रचार की दिशा मे कदम उठाये गए हैं। युवा वर्ग को उचित पथ प्रदर्शन हो इस विचार को दृष्टिगत रखते हुए प्रति मास 'युवा भारती' का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया गया है। विभिन्न शाखाओ मे पाठशालाऐ, पुस्तकालय, साहित्य विक्री केन्द्र खोले गए हैं।

हमारी सभी गतिविधियो मे युवक-युवतियाँ बहुत ही रुचि पूर्वक भाग लेते है। फैडरेशन की अनेक शाखाग्रो के सदस्यो ने सामूहिक रूप से रात्रि भोजन का त्याग एव नियमित देव दर्शन का व्रत लेकर अनुकरणीय कार्य किया है। इन सब तथ्यो से आज हमारा मस्तक ऊचा उठ रहा है, हम अपने आपको गौरवान्वित अनु-भव कर रहे हैं।

भविष्य मे शोध पुस्तकालय को वृहद् रूप देना, सत्साहित्य प्रकाशन करना, स्वयसेवक तैयार करना तथा योग्य विद्वान तैयार करना हमारा लक्ष्य है। आप सबके सहयोग से हम इन कार्यो को भी सुगमता पूर्वक निर्वाह कर लेगे ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

'दिव्यालोक' स्मारिका प्रकाशन का उद्देश्य नये लेखक तैयार करना है ताकि कलम के सिपाही अपनी सशक्त लेखनी के माध्यम से समाज मे नवीन क्राति का सूत्र-पात करे। प्रस्तुत अक मे अधिकाश रचनाऐ नवोदित लेखको की हैं अत कुछ कमियाँ होना स्वाभाविक है। मैं उन सभी लेखको का कृतज्ञ हूँ, जिन्होने अपनी रचनाऐ प्रकाशनार्थ भेजी साथ ही उन विज्ञापनदाताओ का भी कृतज्ञ हू जिनके सहयोग से प्रकाशन को बल मिला है। अन्त मे डॉ० हुकमचदजी भारिल्ल, प० रतन चन्दजी भारिल्ल, ब्र० श्रीचन्दजी, सोनगढ, ब्र० जतीशचन्दजी, ब्र० अभिनन्दनकुमारजी, प० अभयकुमारजी एव कपूरचन्दजी (कपूर आर्ट प्रिटर्स) आदि महानुभावो का स्मरण करना भी न भूलू गा जिनके सहयोग एव मार्ग-दर्शन से मैं इस स्मारिका का सम्पादन एव प्रकाशन कर सका हू। यदि मुझ अल्पबुद्धि से सम्पादन मे कोई त्रुटि या अभाव रह गया हो तो मे उसके लिए क्षमा प्रार्थी हू। स्मारिका आपको कैसी लगी, अपने विचार अवश्य भेजे। आपका सहयोग ही हमारा सम्बल है अत सहयोग देते रहे। इसी भावना के साथ—

—अखिल बंसल

मुनि श्री के आशीर्वाद

आचार्य श्री जयसागर जी –

छहढाला मे कहा है कि–"बालपने मे ज्ञान न लह्यो, तरुण समय तरुणी रत रह्यो।" ये प्राणी भोगो मे अपना मनुष्य भव खो देता है। जिसमे युवावस्था मे तो भोगो की वान्छा अधिक उग्र रहने से धर्म मे लोगो का मन नही लगता। युवावस्था मे तुम लोगो की धार्मिक रुचि देखकर मुझे बहुत खुशी होती है। मै चाहता हूँ कि सभी नवयुवक धर्म मे रुचि ले, स्वाध्याय करे, सदाचार से रहे। इसके लिए तुम लोगो ने युवा फैडरेशन स्थापित कर बहुत अच्छा कार्य किया है यह फैडरेशन खूब प्रगति करे ऐसा मेरा आशीर्वाद है।

आचार्य श्री शांतिसागर जी—

युवको मे धर्म के प्रति रुचि होना बहुत जरूरी है। इनके द्वारा धर्म की बहुत प्रभावना हो सकती है इसी मे उनकी आत्मा का कल्याण भी है। युवा फैडरेशन इसके लिए बहुत अच्छा काम कर रहा है। पाठशालाऐ खोलना, शिविर लगाना आदि कार्यो से फैडरेशन द्वारा अच्छी प्रभावना हो रही है। युवा फैडरेशन अपने कार्य क्रमो मे सफल हो तथा सभी युवक रत्नत्रय मार्ग पर चले ऐसा मेरा आशीर्वाद है।

मुनि श्री विजयसागर जी—

जैन धर्म तो प्राणीमात्र के कल्याण का धर्म है इसलिए सभी लोगो को इसे धारण करके मनुष्य भव सफल करना चाहिए। आजकल फैशन का बहुत जोर है, युवा वर्ग धर्म को भूलता जा रहा है। ऐसे समय मे आप लोग धर्म मे रुचि ले रहे हैं और दूसरे युवको को भी प्रेरणा देते हैं यह देखकर मुझे बहुत खुशी हुई है। आपका युवा फैडरेशन धर्म की खूब-खूब प्रभावना करे, ऐसा मेरा शुभाशीष है।

सन्देश

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन द्वारा दीपमालिका के अवसर पर दिव्या-लोक नामक एक स्मारिका प्रकाशित की जा रही है, यह जानकर प्रसन्नता है।

दीपावली का त्यौहार भारत मे सर्वाधिक लोकप्रिय त्यौहार है। इसे प्राय सभी वर्गो और सम्प्रदायो के व्यक्ति हर्षोल्लास के साथ भेद-भाव मिटाकर मनाते हैं। इसके साथ कुछ ऐतिहासिक और धार्मिक भावनाऐ भी जुडी हुई हैं।

आशा है स्मारिका मे तत्सम्बन्धी जानकारी प्रकाशित होगी। स्मारिका उपयोगी सिद्ध हो।

—**जगजीवनराम**, भूतपूर्व-उपप्रधान मन्त्री,
६ कृष्णा मैनन मार्ग, नई दिल्ली

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गतवर्ष की भाति इस वर्ष भी दिव्यालोक स्मारिका का प्रकाशन किया जा रहा है।

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन अपने उद्देश्यो की पूर्ति के लिए कृतसकल्प है, यह हर्ष का विषय है। युवा पीढी आगे आकर समाज मे सगठन भावना का सचार करे, यह आज के सन्दर्भ मे नितान्त आवश्यक है।

मुझे आशा है फैडरेशन रचनात्मक कार्यो की ओर उन्मुख होकर समाज के समक्ष एक उदाहरण प्रस्तुत करेगी, जो आपके लिए एक महान उपलब्धि होगी। मेरी शुभकाकामनाऐ आपके साथ हैं।

—**साहू श्रेयांसप्रसाद जैन**, बम्बई

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि 'दिव्यालोक' वार्षिक स्मारिका का प्रकाशन आप करने जा रहे हैं। मुझे पूर्ण आशा है कि पत्रिका समाजोपयोगी एव राष्ट्रोपयोगी होगी। मेरी शुभकामनाऐ स्वीकार कीजिए।

—**अक्षयकुमार जैन**, भू पू सम्पादक नवभारत टाइम्स
सी-४७ गुलमोहर पार्क, नई दिल्ली

आप 'दिव्यालोक' स्मारिका प्रकाशित करने जारहे हैं, यह जानकर प्रसन्नता हुई। आपने अ० भा० जैन युवा फैडरेशन द्वारा दिगम्बर जैन समाज के युवको को जो अखिल भारतीय स्तर पर गठित करने का कार्य किया वह अत्यन्त सराहनीय है।

आज के युवको मे धार्मिक संस्कार रहे यह भी कार्य महत्वपूर्ण है। आप अपने इस महत्वपूर्ण कार्य से युवकों मे धार्मिक सस्कारो को उनके मनो मे आस्था

उत्पन्न कर जिस प्रकार कार्य कर रहे हैं उसके लिए आपको व आपके साथियो को बधाई भेजता हूँ।

'दिव्यालोक' स्मारिका के माध्यम से दिगम्बर जैन युवको मे धार्मिक सस्कारो को जीवन मे लाने में जो सहयोग मिलेगा उसके लिए मेरे विचार से यह अत्यन्त उपयोगी होगी। मैं इसके लिए अपनी शुभकामनाऐं भेजता हूँ।

—**भगतराम जैन**, मत्री अ० भा० दिगम्बर जैन परिषद्,
३०२३ वहादुरगढ, नई दिल्ली

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन की ओर से 'दिव्यालोक' स्मारिका के प्रकाशन की योजना के लिए हार्दिक बधाई। स्मारिका के माध्यम से अनेक अर्चचित विषयो पर अच्छी चर्चा हो जाती है तथा कितने ही नये तथ्यो की पाठको को जानकारी मिल जाती है। 'दिव्यालोक' स्मारिका गतवर्ष से भी अधिक साज-सज्जा एव सामग्री के साथ इस वर्ष भी प्रकाशित होगी तथा युवको मे जैन साहित्य एव सस्कृति के प्रति रुचि पैदा करेगी, ऐसा मेरा विश्वास है। स्मारिका प्रकाशन के लिए मेरी शुभकामनाऐ स्वीकार करे।

—**डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल**
सम्पादक वीरवाणी,- जयपुर (राज)

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि 'दिव्यालोक' स्मारिका का आप दीपावली के शुभावसर पर प्रकाशन कर रहे हैं। 'दिव्यालोक' का प्रथम अ क भी देखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यह बहुत उच्चस्तर का प्रकाशन है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि 'दिव्यालोक' का द्वितीय अ क भी बहुत सुन्दर, उपयोगी एव शिक्षाप्रद सिद्ध होगा। मैं आपके प्रकाशन की सफलता की हृदय से शुभकामना करता हूँ।

—**डॉ० ताराचन्द जैन बख्शी**,
सम्पादक—महावीर समाचार बुलेटिन जयपुर (राज)

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि अ० भा० जैन युवा फैडरेशन विगत वर्ष की भाति इस वर्ष भी 'दिव्यालोक' स्मारिका का प्रकाशन करने जा रहा है।

आज के सघर्षशील एव तनावपूर्ण वातावरण मे युवा फैडरेशन द्वारा इस विशिष्ट पर्व पर स्मारिका का प्रकाशन निश्चित ही युवा वर्ग मे एक क्राति का सूचक है आशा है कि स्मारिका मे प्रकाशित सामग्री व्यष्टि एव समष्टि के हितार्थ उपयोगी सिद्ध होगी। स्मारिका के सफल प्रकाशन के लिए हार्दिक सद्भावना।

डॉ० प्रेमचन्द रांवका, प्राध्यापक राजकीय धूलेश्वर महाविद्यालय,
मनोहरपुर (जयपुर) राजस्थान

मंगलमय जीवन है

—मिश्रीलाल जैन, एडवोकेट (गुना)

मगलमय जीवन है, रागद्वेष मत घोलो।
कौन हो, कहाँ से आये, उत्तर दो कुछ बोलो॥
हर युग के मानव की, गाथा है याद तुम्हे।
काया मे शाश्वत हो कौन जिया, कुछ बोलो॥

आयु का आधा क्रम सोने मे बीत गया।
बचपन सग बीता, कुछ यौवन सग रीत गया॥
अग-अग शिथिल हुऐ, प्रभु तक न दृष्टि गई।
भव-भव के भ्रमण हेतु, फिर से ये जीव गया॥

मानव मत इससे तुम, सासो को प्यार करो।
देह को न मानव तुम, किंचित दुलार करो॥
सासे छल जायेगी, किस क्षण विश्वास नही।
आत्मा अनश्वर है, उसका श्रृंगार करो॥

दबे-दबे पाव मौत, आती है आने दो।
आहट मिल जाये तो, मन मत घबराने दो॥
निश्चित ही मृत्यु से, जीवन का अन्त न हो।
प्राण मुखर होते हैं, देह बदल जाने दो॥

खेल-खेल में जब, खिलौना टूट जाता है।
बालक रो देता पर, ज्ञानी मुस्कराता है॥
आत्म के जौहरी को, इसका कुछ दर्द नही।
कौन जन्म लेता है, कौन मृत्यु पाता है॥

युवा वर्ग धर्म से विमुख क्यों ?

—परमात्म प्रकाश भारिल्ल, (जयपुर)

"अभी धर्म करोगे तो अगले जन्म मे सुख मिलेगा" यही वह मान्यता है जिसने युवा वर्ग को धर्म से विमुख कर दिया है।

सुख की खोज में भटकता-भटकता जब यह युवा कुछ धार्मिको (तथाकथित) के पास पहुचा तो अगले जन्म मे सुख की बात सुनकर, पुनर्जन्म को सशय की निगाह से देखने वाला अधीर आधुनिक युवा वर्ग यह सोचकर आगे चल दिया कि यदि पुनर्जन्म होता भी है तो उसे सुधारने के लिए इस धर्म को तो बुढापे मे सम्भाल लेगे।

"वत्थु सहावो धम्मो" वस्तु का स्वभाव धर्म है, और आत्मा का स्वभाव अविनाशी है, यदि यह श्रद्धान हो जाता हे तो बतलाइए भला निर्भय होने मे कितना समय लगेगा ? क्या अगले जन्म तक इन्तजार करना होगा ? नही, जिस प्रकार जल-पान करने पर तृषा तुरन्त शात हो जाती है उसी प्रकार धर्म का आश्रय लेने से सुख उसी समय प्रकट हो जाता है। और तो और जिस प्रकार बरसात से पहिले आने वाली ठडी हवाऐ भी चित्त प्रसन्न कर देती है। उसी प्रकार आत्मानुभूति से पूर्व ज्ञान मे होने वाला वस्तु स्वरूप का निर्णय भी अनन्त शाति उत्पन्न करता है।

धर्म के प्रति अरुचि का दूसरा बडा कारण रहा हे उन बाह्य क्रियाओ का धर्म के साथ जुड जाना जिनके प्रति युवा वर्ग मे अरुचि रही है, वे क्रियाऐ धर्म की पहिचान ही बन गई और धीरे-धीरे वे धर्म मे ऐसी घुलमिल गई कि उनके बिना धर्म देखना हमारे लिए असम्भव हो गया।

डा० मेस्मर के उस प्रयोग से तो आप परिचित होगे ही जिसमे वह एक कुत्ते के सामने घटी बजाता और तभी उसे भोजन देता। कुछ दिनो यही क्रम जारी रखने के बाद जब उसने एक दिन घटी तो बजाई पर कुत्ते को भोजन नही दिया तब भी कुत्ते के मु ह से लार गिरने लगी क्योकि उसने घटी बजने के साथ भोजन मिलने का सम्बन्ध स्थापित कर लिया था।

इसी प्रकार यदि उस कुत्ते को भोजन देते समय कोई शारीरिक कष्ट दिया जाएगा तो कुछ दिनो बाद वह भोजन करने से हिचकने लगेगा, क्योकि उसके मन मे यह धारणा घर कर चुकी होगी कि भोजन करने से यह कष्ट होता है।

ठीक इसी प्रकार जब–जब युवा धर्म की ओर उन्मुख हुआ तो वह वास्तवि धर्म को समझ पाता उससे पहिले ही उसे धर्म के नाम पर कुछ बाह्य क्रियाएँ दि दिखाई दी और उन क्रियाओ मे अरुचि रखने वाला वह युवा धर्म से विमुख हो गया

जैन धर्म बडा ही वैज्ञानिक धर्म है और इसमे इस तरह की मान्यताओ के लिए कही कोई स्थान नही है जहा अनुयोग पद्धति द्रव्यानुयोग के विषय तत्व निरूपण को, चरणानुयोग के विषय बाह्याचार को और करणानुयोग के विषय कर्मों के बन्धोदय की स्वतन्त्र रूप मे व्याख्या करती है, वही दूसरी ओर गुणस्थान पद्धति इन सबको मिलाकर विभिन्न अवस्थाओ मे जीव की स्थिति बतलाती है। गुणस्थान बतलाती है कि किस गुणस्थान मे जीव शुद्धि की वृद्धि की किस अवस्था मे होगा (द्रव्यानुयोग), उस समय उसका बाह्याचरण कैसा होगा (चरणानुयोग) और उस अवस्था मे उसके कौन-कौन से कर्मो की बध व्युच्छिति होगी (करणानुयोग)।

हमे चाहिए कि आचार्यो ने जिस वैज्ञानिक पद्धति से धर्म का निरूपण किया है हम भी उसी दृष्टि से उसे समझे, बाह्याचार पर जोर न देकर वस्तु के स्वरूप को समझने-समझाने का प्रयत्न करें। वस्तु के स्वरूप की समझ से उत्पन्न निर्मलता के फलस्वरूप जीवन मे बाह्य सदाचार आए बिना रह ही नही सकता। बादाम के साथ छिलका तो उत्पन्न होता ही है उसके लिए अलग से प्रयत्न नही करना पडता है।

आ० क० प० टोडरमलजी द्वारा मोक्षमार्ग प्रकाशक (पेज २७१ से २७५) मे वर्णित प्रथमानुयोग के वर्णन का विधान, ध्यान मे रखते हुए हमे चाहिए कि जीवो को धर्म मे लगाने के प्रयोजन हेतु हम धर्म का युगानुसार प्रस्तुतीकरण करे। यहाँ मेरा तात्पर्य उस मान्यता से है जो कहती है कि युगानुसार धर्म मे परिवर्तन किया जाना चाहिए। धर्म तो वस्तु का स्वरूप है और वस्तु स्वरूप अपरिवर्तन होने से धर्म अपरिवर्तनीय है। पर जब धर्म बुद्धि से धर्म के मार्ग पर लाने के लिए प्रथमानुयोग मे कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण[1] कथन किए जा सकते हैं तो क्यो नही धर्म की व्याख्या के पवित्र उद्देश्य से उसमे आधुनिक साधनो का उपयोग नही किया जा सकता।

---

१ मोक्षमार्ग प्रकाशक पेज २७२—

तथा जिस प्रकार किसी ने शीलादिक की दृढ प्रतिज्ञा रखी व नमस्कार मत्र का . तथापि उनको उन्ही व्रत शीलादिक का फल निरूपण करते हैं।

——

दहेजप्रथा-अधिनियम और मानव

—डा० अरविन्दकुमार जैन (भागलपुर)

जहा एक ओर देश प्रगति के पथ पर उन्मुख है, तो दूसरी ओर अन्ध-विश्वास और पुराने रीति रिवाज द्रुतगति से चारो तरफ फैलकर सुगन्धित वातावरण को दूषित कर रहे है। आज देश मे समस्याओ को विना सुलझाये कैसे देश को महान वनाया जा सकता है। देश मे समस्याओ का जाल सा फैला हुआ है। जैसे निर्धनता और वेकारी की समस्या से जुडी हुयी वैवाहिक समस्या भी है। जिसे देहज प्रथा के नाम से जानते है। यह बहुत ही जटिल एव गम्भीर समस्या है। आज के वैज्ञानिक युग मे इस समस्या ने विकराल रूप धारण कर लिया हे।

प्राचीन समय मे विवाह के समय कन्यापक्ष द्वारा वरपक्ष को जो कुछ धन एव वस्तुऐ उपहार या भेट मे प्रदान की जाती है उसी का नाम प्राचीन लोगो ने दहेज रखा। धीरे धीरे यही एक प्रथा का रूप हो गया। प्राचीन समय मे दहेज मे यह धन कन्या पक्ष की ओर से वर पक्ष को अपनी इच्छानुसार दिया जाता था। परन्तु आधुनिक समय मे धन का अधिक आर्थिक महत्व वढ जाने के कारण एव धनाभाव होने के कारण लोगो ने देहज को एक प्रथा के रूप मे वदल दिया। देहज आजकल एक रश्म (शर्त) वन गयी हे। इस रश्म ने इतना विकराल रूप धारण कर लिया है जिसे यदि जड से नष्ट न किया जाय तो यह मानव समाज के लिये अभिशाप सिद्ध हो सकती है।

वेद आदि पुराणो के अनुसार मानव विवाह एक सर्वोत्कृष्ट यज्ञ है। दो आत्माऐ अपना अपना स्वतत्र अस्तित्व खोकर एक दूसरे मे विलीन हो जाती है। एक आत्मा का दूसरी मे लय हो जाना अपने स्वतत्र अस्तित्व को समाप्त कर, दूसरे के व्यक्तित्व मे घुल जाना मानव प्राणी के द्वारा हो सकने वाले उत्कृष्ट पुरुषार्थ यज्ञ कहा गया। फिर इस मगल कार्य मे दहेज रूपी दानव का क्या स्थान है? आज के युवा वर्ग को यह दानव अपना शिकार क्यो वना रहा है दहेज प्रथा का आधुनिक युग मे क्या स्थान है। वह यह है—

कैसी शादी है, कितना देहज चढता है,
किसी का सूर्य ढलता है, किसी के घर निकलता है।

कैसे है ये समाज के रीति—रिवाज,
प्रेम की लाश पर, पैसे का कफन चढता है ॥

आजकल निर्धनता और बेरोजगारी का बोलवाला होने के कारण दहेज प्रथा को प्रोत्साहन मिल रहा है। आधुनिक महगी शिक्षा प्रणाली दहेज प्रथा प्रोत्साहन का अप्रत्यक्ष कारण है। दहेज प्रथा से समाज को लाभ की दृष्टि से हानिया भयकर हैं। जो आज एव भविष्य मे भी अपना घातक असर मानव मस्तिष्क पर डाल रही है।

साधारणतय दहेज प्रथा के दो लाभ सामने आये हैं, एक तो बाल विवाह पर नियन्त्रण साथ ही दूसरा स्त्री शिक्षा को प्रोत्सासन मिला। परन्तु लाभ से अधिक हानिया भी दृष्टि मे आ रही हैं, जिनके परिणाम आये दिन देखने एव समाचार पत्र-पत्रिकाओ मे दृष्टिगत होते हैं।

आत्महत्या एव शिशु हत्या, मानव समाज मे दहेज प्रथा के कारण स्वा-भाविक हो रही हैं। साथ ही लडकी के माता पिता को वर की इच्छाओ को पूरा करने के लिये ऋण लेना पडता है या सम्पत्ति गिरवी रखनी पडती हे। कन्याओ का वैवाहिक जीवन खुशियो की जगह दहेज प्रथा के कारण एव दहेज अपूर्ति से दुखद यातनाओ से परिपूर्ण हो जाता है। साथ ही वर एव कन्या पक्ष मे तनाव उत्पन्न हो जाता हे। इससे बेमेल विवाह को प्रोत्साहन मिलता है। जिससे आज मानव समाज की आर्थिक एव सामाजिक एकता क्षीण होती जा रही हे।

आज के मानव के समक्ष दहेज प्रथा को दूर करने की समस्या का प्रश्न आ खडा हुआ है। इस सम्बन्ध मे दहेज प्रथा को जड से नष्ट करने के निम्न उपाय हित-कर सिद्ध होगे। जो निम्न प्रकार है—

(1) **वैधानिक उपाय**—सरकार ने दहेज प्रथा को गैर कानूनी घोषित करके इसे समाप्त करने का विचार किया। इस सम्बन्ध मे भारत सरकार ने एक अधि-नियम सन् १९६१ मे पास किया तथा इसका नाम "दहेज निरोधक अधिनियम" रखा। इस नियम के अनुसार दहेज देने व लेने वाला साथ मे मदद करने वाला अप-राधी होगा। उसे कानून के अनुसार ६ माह का सश्रम कारावास तथा पाच हजार रुपया जुर्माना है। परन्तु सरकारी अधिकारियो की शिथिलता के कारण यह कुप्रथा आज भी विकराल रूप मे विद्यमान है। आपातकाल में इस अधिनियम मे कुछ जागृति आयी, परन्तु अब सुप्त अवस्था मे है।

इस सम्बन्ध मे हम सभी नवयुवको को फैडरेशन के माध्यम से इस विद्यमान दहेज प्रथा को हटाना ही नही बल्कि समूल नष्ट करना है। साथ-साथ भारत सर-

कार का भी उसके बनाए हुए अधिनियम की ओर ध्यान केन्द्रित करना ही नही, उसे इस ओर अग्रसर होने के लिये वाध्य करना है।

(२) अन्तर्जातीय विवाह को मान्यता देने से दहेज प्रथा मे कमी आयेगी।

(३) शिक्षा आदि का विस्तार करके, सरकार शिक्षा प्रणाली को सस्ता एव सुलभ बनाए जिससे अधिक से अधिक लडके पढकर योग्य वर के रूप मे सामने आये।

(४) लडकियो को भी शिक्षा देकर स्वावलम्बी बनाना चाहिए। ताकि विवाह जीवन मे अनिवार्यता न रह जाए।

(५) लडके एव लडकियो के शिक्षित होने से उन्हे नौकरियो की सुविधा प्रदान करने से, वे एक दूसरे के निकट आते है। अत उन्हे अपनी इच्छा से जीवन-साथी का चुनाव करने देना चाहिये।

(६) गाधी जी का सुझाव—वर मूल्य प्रथा का अन्त करने के लिये पूज्य बापू ने अपने सुझाव देते हुये लिखा है कि "इस प्रथा को मिटाना ही पडेगा। विवाह रुपयो के लिए मा-बाप का किया हुआ सौदा नही होना चाहिये। इस प्रथा का जाति-पाति से गहरा सम्बन्ध है जब तक किसी खास जाति के ही सौ दो सौ युवक-युवतियो के भीतर जीवन साथी का चुनाव करना पडेगा या होता रहेगा, तब तक इस प्रथा की कितनी निन्दा की जाय, यह कायम रहेगी। अगर इस बुराई को जड से मिटाना है तो लडके लडकियो या उनके मा-बाप को जाति बन्धन तोडना पडेगा। प्रत्येक प्राणी को मानवता से प्यार करना चाहिये, जाति-पाति से नही।"

परन्तु निष्कर्ष यही निकलता है कि दहेज से लाभ वहुत कम तथा हानियाँ वहुत है। अत समय एव परिस्थिति के अनुसार हमे स्वय एव समाज को वदलना है जिससे वर्तमान समाज दहेज रूपी राक्षक का शिकार न वन सके। परन्तु इस सम्बन्ध मे युवको को समाज सुधार, देश प्रेम एव सद्भावना से प्रेरित होकर इस कुप्रथा के विरुद्ध कठोर कदम एक झन्डे के नीचे आकर उठाना हे। ताकि हल सम्भव हो सके।

——

निर्विकल्प आत्मानुभूति

—श्रीमती शुद्धात्मप्रभा टडैया (झासी)

जैन आध्यात्मिक ग्रन्थो मे निर्विकल्प आत्मानुभूति, निजानुभव, निर्विकल्प अनुभव, अनुभव, अनुभूति आदि को एक ही अर्थ म प्रयुक्त किया है। 'आत्मावलोकन' म स्पष्ट रूप से कहा है कि--

जव ज्ञान दर्शन चारित्र परिणामो से स्वस्वाद रूप स्व-अनुभव होता है तव उन परिणामो को निम्न नाम (सज्ञा) भाव द्वारा कहते हैं—निर्विकल्प दशा, आत्मा सन्मुख-उपयोग, भावमति-भावश्रुति, स्वसवेदन भाव, स्ववस्तुमग्न, स्वाचरण, स्व-स्थिरता, स्वविश्राम, स्वसुख, इन्द्रिय मन सज्ञा अतीत भाव, शुद्धोपयोग ये सर्व भाव, ... स्वअनुभव आदि अनेक सज्ञाए है, परन्तु एक स्वस्वाद रूप अनुभव दशा अथवा निर्विकल्प दशा मुख्य जानना।'

अनुभव की महिमा प्राय सभी ग्रन्थो में वर्णित है। आ० अमृतचद्र तो अपने ग्रन्थो के प्रारम्भिक मगलाचरण मे अनुभव से प्रकाशित होने वाले शुद्धात्मा को ही नमस्कार करते है जैसे—

"नम समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते"१

इसी प्रकार प्रवचनसार की टीका तात्पर्यवृत्ति मे स्वानुभव से प्रसिद्ध होने वाले आत्मतत्त्व को नमस्कार किया है—

"स्वोपलब्धि प्रसिद्धाय ज्ञानानन्दात्मने नम "

नाटक समयसार की उत्थानिका मे प० वनारसीदास जी अनुभव की महिमा का वर्णन करते हुए कहते है कि—

"अनुभौ के रस की रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर।
अनुभौ की रसा कहावै सोई पोरसा सु,
अनुभौ अधोरसा सो ऊरध की दौर है ॥

१ समयसार कलश—१

अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ कौ स्वाद पंचअमृत कौ कौर है।
अनुभौ करम तोरै परम सो प्रीति जौरे,
अनुभौ समान न धरम कोऊ और है ॥१॥

इतना ही नही वे तो अनुभव को साक्षात् मोक्षस्वरूप ही कहते हैं—

"अनुभव मारग मोख कौ, अनुभौ मोख स्वरूप"[1]

सामान्य रूप से "नाना प्रकार के विकल्पो से रहित आत्मा की अनुभूति ही निर्विकल्प आत्मानुभूति है ॥"

विभिन्न दृष्टियो से अनुभव की अनेक परिभाषाएँ दी गई है—

'अन्तरोन्मुखी वृत्ति द्वारा आत्मा साक्षात्कार की स्थिति का नाम ही आत्मानुभूति है[2]

'वस्तु विचारत ध्यावते, मन पावे विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव याकौ नाम ॥'[1]

अर्थात् आत्म पदार्थ के ध्यान करने से चित्त को जो शाति मिलती है तथा आत्मिक रस का आस्वादन करने से जो आनन्द मिलता हे, उसी को अनुभव कहते है। ऐसा अनुभव होने से पूर्व ज्ञान अनेक ज्ञेयो को जानता है, उसमे नाना प्रकार के विकल्प होते है। नाना प्रकार के विकल्पो से तात्पर्य जीव के ही स्वरूप के बारे मे अनेक प्रकार से सोचने से है, न कि अन्य विषयो के बारे मे विचार करने से। जैसे—जीव स्पष्ट रूप से पृथक्-पुद्गलो से भिन्न है, वह आत्मा के साथ एक क्षेत्रावगाही संबध रखने वाले शरीर से भी भिन्न है, तथा वह आत्मा मे उत्पन्न होने वाले विकारी व अविकारी भावो से भी भिन्न ज्ञान-दर्शन मय है, आनन्द स्वरूप है।

इस प्रकार के विकल्प जिस दशा मे होते है, वही दशा 'सविकल्प दशा' है। पर जब आत्मा एकमात्र आत्मस्वरूप मे ही मग्न हो जाती है, तब ये विकल्प उठना बन्द हो जाते है, इस अवस्था मे ध्याता-ध्येय, ज्ञाता-ज्ञेय का भी भेद नही रहता, यही दशा 'निर्विकल्प अनुभव' की दशा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जब आत्मा अपने आत्मस्वरूप का निश्चय करके पंचेन्द्रियो व मन द्वारा बाह्य विषयो मे प्रवर्तमान ज्ञान को स्वसन्मुख करता है, तब आत्मा की अनुभूति होती है।

---

१ नाटक समयसार

२ मै कौन हूँ

उपरोक्त कथन से स्पष्ट है कि जो ज्ञान पूर्व मे इन्द्रियो व मन द्वारा स्पर्शादि मे प्रवर्तता था वही आत्मानुभूति के समय स्वरूप सन्मुख हुआ अतः वह इन्द्रियो के विषय स्पर्शादि रूप मे नही प्रवृतता अत वह ज्ञान अतीन्द्रिय है।

इस अनुभव के समय आत्मा के प्रदेश आकार भासित नही होती अत यह अनुभव परोक्ष है फिर भी स्वरूप मे परिणामो के मग्न होने से जो स्वानुभव होता है वह स्वानुभव प्रत्यक्ष है।

जव तक यह स्वानुभव नही तव तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नही होती और सम्यक्त्व की प्राप्ति के विना चरित्र भी नही होता, तथा सम्यक्चारित्र विना मोक्ष नही होता अर्थात् निर्विकल्प, आत्मानुभूति मुक्ति का कारण हे इसे मोक्षपाहुड, रयणसार, समयसार कलश आदि ग्रन्थो मे स्थल-स्थल पर कहा गया हे। नाटक समयसार मे प० वनारसीदासजी कहते है कि—

'जे अविकल्पी अनुभवी, सुद्ध चेतना युक्त।
ते मुनिवर लघुकाल मे, होही करम से मुक्त'॥

इस प्रकार हम देखते ह कि जव आत्मा ध्रुव, आत्म-तत्व को अपनी दृष्टि का विषय वनाता हे, तव वह शीघ्र ही पर्याय से भी शुद्ध होकर अविनाशी ज्ञान पद को प्राप्त करता है। अविनाशी ज्ञानपद को विभूपित करने वाली उस आत्मा का अभिषेक करने को इन्द्र भी मचल उठता हे।

अत हमे अपना उद्देश्य निर्विकल्प आत्मानुभूति को शीघ्र प्राप्त करने का वनाना चाहिए ताकि सम्यक्त्व प्राप्त कर शीघ्र सहज सुख प्राप्त किया जा सके।

जो जाणादि पच्चक्ख तियाल-गुण-पज्जएहिं सजुत्त।
लोयालोय सयल सो सव्वहूण हवे देवो॥

जो त्रिकालवर्ती गुणपर्यायो से सयुक्त समस्त लोक और अलोक को प्रत्यक्ष जानता है वह सर्वज्ञ देव है।

धर्म के मूल आप्त

—सुदीपकुमार जैन (ललितपुर)

"जे त्रिभुवन मे जीव अनन्त, सुख चाहे दु ख तैं भयवन्त।"

ससार अटवी मे प्राणिमात्र दु ख-परिहार के लिये शरीर त्याग जैसे क्रूर प्रयत्नो को करके भी दु ख सन्तप्त है। इसके प्रमाण है उसके सुख-प्राप्ति के लिये किये जाने वाले अभिलाषात्मक प्रयत्न। पर किसी वस्तु का अस्तित्व पक्ष है तो उसका नास्तित्व पक्ष भी अवश्यभावी है। यह अनेकान्तात्मक वस्तु व्यवस्था प्रमाणित करती है। अत हमारे विद्यमान दु खो से मुक्ति का भी कोई उपाय होना चाहिए तथा वह हमारे द्वारा किये आज तक के समस्त प्रयत्नो से भिन्न कोई अलौकिक उपाय होना चाहिए, और वह है 'धर्म'। वस्तु स्वभाव को जानकर आत्मस्वभावमय परिणत हो जाना धर्म है और उस स्थिति को प्राप्त कर उसकी उद्घोषणा करने वाले होने से 'आप्त' धर्म के मूल है।

आप्त का लक्षण रत्नकरण्डश्रावकाचार मे निम्नानुसार वर्णित है—

"आप्तेनोच्छिन्नदोषेण, सर्वज्ञनामेशिना।
भवितव्य नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥"[1]

जन्मजरा आदि अठारह दोषो से रहित वीतरागी, सर्वज्ञ व हितोपदेशी पुरुष (अरहन्त) को ही आप्त कहते है। इन गुणो से युक्त अरहन्त देव के अतिरिक्त कही भी किसी के भी आप्तपना सम्भव नही है।

यहा यह शका स्वाभाविक है कि अरहन्त के ही आप्तपना क्यो, सिद्धो के क्यो नही? उनके आठो कर्म नष्ट हो चुके है? इसका समाधान न्यायदीपिकाकार ने निम्नानुसार स्पष्ट किया है.—

"जो प्रत्यक्ष ज्ञान से समस्त पदार्थों का ज्ञाता है और परमहितोपदेशी है वह आप्त है तथा परमहितोपदेशिता अरहन्तो मे ही पायी जाती है, सिद्धो मे नही, अत अरहन्त भगवान ही उपदेशक होने से आप्त कहे जा सकते हैं, सिद्ध नही।"

---

१ रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक—५

अर्थात् हितोपदेशिता के कारण ही अरहन्त को आप्त माना गया है, क्योकि हमे अपनी चिंता है सुखी हमे होना है, अत हमारे हित की बात जो बताये वह हमारी दृष्टि मे उपयोगी श्रेष्ठ है। इसीलिये तो 'णमोकारमन्त्र मे सिद्धो के श्रेष्ठ होते हुये भी अरहन्तो का उनसे पूर्व स्मरण किया गया है।

अरहन्त के स्वरूप के विषय मे प० टोडरमल जी के विचार द्रष्टव्य हैं

"वहाँ अनन्तज्ञान द्वारा तो अपने अनत गुण प्रर्याय सहित समस्त जीवादि द्रव्यो को युगपत् विशेषपने से प्रत्यक्ष जानते हैं पुनश्च जो सर्वथा सर्व राग द्वेषादि विकार भावो मे रहित होकर शात रसरूप परिणमित हुये हैं, तथा क्षुधा तृषादि समस्त दोषो से मुक्त होकर देवाधिदेवपने को प्राप्त हुये है, तथा जिनके वचनो से लोक मे धर्मतीर्थ प्रवर्तता है, जिसके द्वारा जीवो का कल्याण होता है, ऐसे सर्व प्रकार से पूजने योग्य श्री अरहन्तदेव हैं।"[१]

आप्त के वीतरागी सर्वज्ञ और हितोपदेशी ये सार्थक विशेषण है। प्रत्येक अपने अन्दर आप्त की आप्तता कायम रखने के लिये विशिष्ट गभीर अर्थ को समाहित किये हुये है, वे सभी युक्ति सगत है। इनकी सार्थकता का सयुक्तिक विवेचन आचाय विद्यानन्दि ने 'आप्त परीक्षा' मे निम्नानुसार किया है —

"मोह विशिष्ट गुरु से मोक्षमार्ग का प्रणयन सभव नही है, और उसके विना राग द्वेषादि समस्त दोषो के नाश से उत्पन्न होने वाली आत्मस्वरूप की प्राप्ति (वीत रागता) नही होती अत हे नाथ! उस आत्म स्वरुप की प्राप्ति के लिये आप उत्कृष्ट गुरु हितोपदेशी रूप से यहाँ वदनीय है, क्योकि आप क्षणीमोह है और हस्ता मलकवत् समस्त तत्वो को प्रत्यक्ष जानते है सर्वज्ञ, ।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि वीतरागता, सर्वज्ञ तथा हितोपदेशिता आदि गुणो से विभूषित भगवान अर्हन्त ही आप्त हैं।

उनके गुणो का विवेचन निम्नानुसार है —

वीतरागता —

राग-द्वेषादि दोषो से रहित आत्मस्वभावमय परिणति ही वीतरागता है तथा उससे युक्त होने से आप्त को वीतरागी कहा गया है।

"वीतोऽपगतो राग सक्लेशपरिणामो यस्मादसौ वीतराग ।" अर्थात् जिसके सक्लेश-परिणाम नष्ट हो गये है वह वीतराग है।

---

१ मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ—२

ज्ञानादि गुणो का ढुलान निज की आत्मा की ओर न होकर पर की तरफ ढुलान होना ही राग–द्वेष है, तथा उसके विपरीत निष्पक्ष ज्ञान स्वभावमय परिणति का नाम वीतरागता है। अर्थात् ज्ञान मे जानने के अतिरिक्त अन्य इष्टानिष्ट आदि रूप बुद्धि की मिलावट न होना ही वीतरागता है।

हमारे जानने मे किसी न किसी पक्षपात (राग–द्वेष) तथा इष्टानिष्ट बुद्धि का सम्मिश्रण रहता है, अतएव हम दुखी हैं, क्यो कि हम वस्तुस्वभाव (धर्म) से विपरीत आचरण कर उसे चुनौती देते है। जिस क्षण हमारा जानना परनिरपेक्ष मात्र जानना रह जायेगा, उसमे से समस्त इष्टानिष्ट बुद्धि का परिहार हो जायेगा तो हम भी वीतरागता के धनी हो जायेगे।

परन्तु बात हमे असम्भव सी जान पडती है जैसा कि अग्नि के ज्ञान के साथ प्रसगानुकूल अच्छी या बुरी कल्पना हमारे मन मे स्वत आती जान पडती है। मूलभूत कारण है कि हमे वीतराग के नित्य दर्शन कर तथा उनकी वाणी का श्रवण कर के भी हम वीतरागता के स्वरूप से अनभिज्ञ हे। यदि यह पक्षपात हमारी दृष्टि मे न आये तो हम भी वीतरागी देव की तरह सुख व शाँति के धारक वन सकते हे। वह पक्षपात पक्षातीत निज ध्रुव आत्मतत्त्व के हमारे ज्ञान का ज्ञेय वनने पर ही दूर हो सकेगा, अर्थात् जव हमारी ज्ञान पर्याय का विपय हम (आत्मा) स्वय जानेगे, तभी वीतरागता प्रकट होगी।

किन्तु यह हमे अस्पष्ट सा लगता हे कि जानने मे राग द्वेप न हो इसके लिये आत्मा को जानने की क्या आवश्यकता ? परन्तु यह अत्यन्त मनोवैज्ञानिक सत्य हे।

"मै किसी को दुखी होते नही देख सकता" इत्यादि रूप दयार्द्र परिणामी जन आज भी विपुलता से उपलब्ध है पर भगवान कहते हैं कि यदि तू किसी को दुखी होते नही देख सकता तो तेरे कभी राग–द्वेष का अभाव भी नही हो सकता है। क्यो कि केवली भगवान को नारकियो की भयकर मारकाट के दृश्य भी एकदम प्रत्यक्ष ज्ञानगोचर होते है, तथापि वे निर्विकार भाव मे उन्हें जान लेते हे, यदि उन्हे भी उनके प्रति दया या करुणा (राग) का भाव आने लगे तो फिर उन्हे वीतरागता ही असभव हे इसका यही कारण हे कि वे आत्म सुख मे इतने मग्न है कि उन्हे उनके दुखो के प्रति विकल्प भी नही उठता। इसका अर्थ यह नही कि हिंसा व क्रूर परिणामो को प्रोत्साहन दिया जा रहा है।

इसी प्रकार इष्ट और अनिष्ट (मान्यता की अपेक्षा) प्रत्येक सयोग के प्रति निर्विकार भाव से जानना और उसके प्रतिफल मे दयार्द्र या क्रूर भाव न होना

वीतरागता है। शायद इसी के पूर्वाभ्यास हेतु भावलिंगी सत वन मे विचरते हैं। अत हमे भी इन सयोगो मे एकत्व ममत्व बुद्धि के कारण होने वाले विकल्पो से निरपेक्ष रहना होगा।

इसके लिये हमे इन राग द्वेषादि भावो मे परे कोई उत्कृष्ट वस्तु का आश्रय लेना होगा लौकिक मे भी हम देखते है कि जब तक बच्चे को उसके हाथ की वस्तु से श्रेष्ठ तथा इष्ट वस्तु न दे, तब तक वह हाथ की वस्तु नही छोड सकता। ऐसे ही अनन्त सुख के भडार आत्मतत्व पर दृष्टि जाये बिना बाह्य पदार्थो की महिमा व उन के प्रति राग द्वेष आदि भाव समाप्त नही हो सकते अतएव आचार्य अमृतचन्द्र को कहना पडा —

"सकल मोहनीय विपाक विवेक भावना सौष्ठवस्फुटीकृत निर्विकारत्याग स्वरूप त्वाद्विगतराग।" अर्थात् अत्यन्त प्रकट रूप से निर्विकार आत्मस्वरुप को **प्रकट किया होने से (आत्मलीन होने से) वीतराग है।"**

इस प्रकार स्पष्ट है कि पर निरपेक्ष आत्ममय परिणति ही वीतरागता है।

सर्वज्ञता —

ज्ञान मे लोकालोक के पदार्थो व उनकी त्रिकालवर्ती अवस्थाओ (पर्यायो) का मुकुरवत झलकना सर्वज्ञता है। अर्थात् ज्ञान पर्याय के आत्ममय हो जाने से प्रकट हुई निर्मलता से उसमे लोकालोक के पदार्थो का हाथ पर रखे आंवलो की तरह प्रतिबिम्बित होना सर्वज्ञता है। अरहन्त भगवान आत्मानन्द मे लीन रहते हुये अपने ज्ञान मे प्रतिसमय झलकने वाले द्रव्य गुण-पर्याय रूप लोकालोक को जानते हैं अत सर्वज्ञ हैं। कविवर प० दौलतराम जी ने अरहन्त देव की स्तुति करते हुये सर्वज्ञता का स्वरूप स्पष्ट किया है —

"सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन।"

अर्थात् सकल ज्ञेय 'पदार्थ' के ज्ञाता हैं फिर भी अपने आत्मा के आनन्द रस मे पगे हुये है यह सर्वज्ञता मे मूल कारण है। अर्थात् आत्मा के प्रगट ज्ञान पर्याय का विषय हो तो सर्वज्ञता प्रगट होती है और लोकालोक ज्ञान का ज्ञेय बन जाता है।

आत्मा की निर्मल ज्ञान पर्याय रूपी स्वाति नक्षत्र की बून्द को हम जब तक किसी पर मे लखायेगे तो सयोगानुसार विष, कपूर व मोती भी बन सकती है, पर सुरक्षित ज्ञानमय नही रह सकती। अर्थात् राग (शुभाशुभ) द्वेषमय रहेगी परन्तु ज्ञानमय रहने के लिये उसे ज्ञानसागर (आत्मा) मे मिल जाना होगा जहाँ वह क्रमश विस्तार को प्राप्त करती हुई पूर्णता (केवल ज्ञान) को प्राप्त हो जाती है अर्थात् ज्ञान

पर्याय का विषय (ज्ञेय) स्वय ध्रुव आत्मतत्व हो जावेगा, तव सर्वज्ञता की उपलब्धि हुए विना नही रहेगी। ऐसी अचला आत्मान्मुख पर्याय जिनमे लोकालोक प्रतिविम्वित हो केवल ज्ञान कहलाती है। वही तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है —

"सर्वद्रव्यपर्यायेपु केवलस्य ॥"[1]

अर्थात् लोकालोक मे विद्यमान समस्त द्रव्यो को तथा उनकी विनष्ट (भूतकालिक) वतमान और भविष्य की पर्याय को केवलज्ञान वर्तमानवत् प्रत्यक्ष जानता है।

यहाँ कर्तृत्व की मान्यता से पीडित जन कराह उठते है कि "वर्तमान व भूतकाल की पर्यायो को जान–यह तो ठीक है, क्योकि भूतकाल की तो हो चुकी ह तथा वतमान की तो मौजूद ही है, पर भविष्य की पर्याये जो अभी उत्पन्न ही नही हुई है उन्हे वर्तमानवत् प्रत्यक्ष कैसे जाना जा सकता है।" ऐसा कहकर वह अपनी पर कर्तृत्व की मान्यता की रक्षा करना चाहते है, क्योकि भूतकाल की पर्यायो मे तो हर फेर करने का प्रश्न ही नही, तथा वर्तमान की प्रत्यक्ष ही है–अत इन दो मे तो कुछ किया नही जा सकता, इसका वश नही चलता, किंतु भविष्य की पर्यायो को बदलने या कुछ आगे पीछे करने की मान्यता की रक्षा करना चाहता है।

किंतु यह अ धेरे मे हाथ पैर मारने जैसा असफल प्रयास है। यद्यपि विनष्ट तथा अनुत्पन्न (भूत व भविष्य की) पर्याये वर्तमान मे मौजूद नही है, तथापि वे ज्ञान मे अपने स्वचतुष्टय (द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव की अपेक्षा अभी भी वर्तमान की तरह ही है। जैसा सन् १९६८ मे वीती ५ वर्ष की उम्र की अवस्था उस काल की अपेक्षा अभी भी विद्यमान है। यदि न हो तो सन् ६८ के बाद तक की अवस्था १० वर्ष की क्यो कहलाती अर्थात् वह पर्याय अभी भी है क्योकि पर्यायें तो जल मे लहर की तरह उत्पन्न व विनष्ट होती रहती है। इसी प्रकार भविष्य की पर्याय भी निश्चित है। उस काल की अपेक्षा अभी भी विद्यमान है। इसको हम प्रत्यक्ष अनुभव करते रहते है। तथा केवली उन भूत व भविष्य तथा वर्तमान को युगपत् जानते हैं, अत, उस काल की अपेक्षा विनष्ट व अनुत्पन्न पर्यायें वर्तमानवत् उनके ज्ञान मे आ जाती हैं। क्योकि वे पर्याये उसी द्रव्य मे से आयेगी या आई है, उन्हे कही वाहर से नही लाना है। अत भून व वर्तमान की तरह भविष्य की पर्यायें निहित हैं।

इस सवध मे आचार्य अमृतचन्द्र के विचार दृष्टव्य हैं —

१—तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय–१ सूत्र २६।

"केवली स्वयमेव समस्तावरणक्षयक्षण एवानाद्यन्त हेतुका साधारणभूतज्ञा स्वभावमेव कारणत्वेनोपादाय तदुपरि प्रविकसत्केवलज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमते ततोऽस्याक्रान्तसमस्त द्रव्क्षेत्रकालभावतया समक्षसवेदानालम्बनभूता सर्वद्रव्यपर्याया प्रत्यक्षा एव भवन्ति।"[1]

केवली समस्त आवरणो के क्षय हो जाने से . केवल ज्ञानोपयोग रूप हो कर परिणमित होते हैं, इसलिये उनके समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव का अक्रमिक (युगपद) ग्रहण होने से समक्षसवेदना की (प्रत्यक्ष ज्ञान की) आलम्बनभूत समस्त पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द भी स्पष्ट उद्घोषणा करते हैं—

"तक्कालिमेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीण॥"[2]

जीवादि द्रव्यो की समस्त विद्यामान और अविद्यमान (भूत और भविष्य की) पर्यायें वर्तमान पयायो की भांति विशिष्टता पूर्वक (केवलज्ञानी के) ज्ञान मे वर्तती हैं।

जैसा चित्रपट पर अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुओ के आलेख्याकार साक्षात् एक क्षण मे ही भासित होते है, उसी प्रकार ज्ञान रूप भित्ति मे वर्तमान अतीत व अनागत पर्यायो के ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षण मे ही प्रतिभासित होते है।

ये पर्यायो का युगपत ज्ञान केवली को अपनी आत्मा मे मग्न रहने से होता है जरा भी यदि उपयोग चचल होकर पर की ओर जाय तो केवलीपना (लोकालोक का ज्ञान) नही रह सकता, इसकी सत्ता तो आत्मा को जानने से है।

आचार्य योगीन्दुदेव ने स्पष्ट कहा है —

"जोइय अप्पे जाणिएणजगु जाणियद हवेइ।
अप्पहँ करेइ भावडइ विंविदजेण वसेइ॥"

अर्थात् अपनी आत्मा को जानने से (केवली के) यह तीन लोक जाने जाते हैं। क्योकि आत्मा के भावरूप केवलज्ञान मे, यह लोक प्रतिबिम्ब हुआ बस रहा है।

इस प्रकार आत्मलीन रहकर त्रिकालवर्ती पर्यायो तथा गुणो के पिंड द्रव्यो को युगपत् निर्विकल्प भाव से जानने से आप्त को 'सर्वज्ञ' कहते है।

---

१ प्रवचनसार गाथा २१ टीका। २ प्रवचनसार गाथा ३७।

हितोपदेशी —

आत्महितकारी उपदेश को ही हितोपदेश कहते है वह केवली के ही होता है, क्योकि केवली को ही सर्वश्रेष्ठ वक्ता माना गया है, अत आप्त को हितोपदेशी कहते है।

वह उपदेश दो प्रकार से होता है —

(१) व्यक्त या दिव्यध्वनि रूप उपदेश,

(२) अव्यक्त उपदेश।

१– भव्य जीवो के आत्महित मे निमित्त अरहन्त भगवान का सर्वाङ्ग नि सरित दिव्यध्वनि रूप उपदेश व्यक्त उपदेश है। यह तीर्थकरो के व मूक केवलियो के अलावा अन्य केवलियो के होता है।

२– भव्य जीवो को आत्महित मे निमित्त आत्मस्वरूपाववोधक अरहन्त भगवान की वीतरागी, सौम्य, अन्तर्मुख मुद्रा को अव्यक्त उपदेश कहते हे। यह मूक केवलियो व जिनविम्वो के द्वारा होता है।

अत स्पष्ट है कि मात्र वचनात्मक उपदेश ही उपदेश नही है। यद्यपि वचनात्मक परिणमित भाषावर्गणा को लौकिक मे उपदेश सज्ञा दी गयी है, तथापि वह उपदेश की सर्वव्यापक परिभाषा नही है। भगवान की मुद्रा भी भव्य जीवो के आत्महित मे निमित्त वन सकी है। अत दोनो प्रकार के उपदेशो को कविवर प० दौलतराम जी ने स्वीकृत किया है —

"जय परमशात मुद्रा समेत, भविजन को निज अनुभूति हेत।
भविभागन वचजोगे वशाय, तुम धुनि ह्वै सुनि विभ्रमनशाय॥"

उक्त दोनो प्रकार के उपदेशो से युक्त होने से आप्त को हितोपदेशी कहा जाता है।

आप्त का उपदेश हितकारी कैसे है? ऐसी कुछ लोग शका करते हैं। इसका सयुक्ति समाधान निम्नानुसार है —

आप्त का उपदेश सच्चा व अच्छा होने से हितकारी है। क्योकि जो सच्चा व अच्छा नही होगा वह हितकारी भी नही हो सकता तथा आप्त वीतरागी होने से उनके उपदेश अच्छे हैं, क्योकि राग या द्वेष के वश बुरा कहा जाता हे तथा आप्त वीतरागी हैं तथा सर्वज्ञ होन से आप्त का सच्चा उपदेश है, क्योकि झूठ परापेक्षता

अज्ञानवश बोला जाता है, तथा आप्त निरपेक्ष निर्मल पूर्णज्ञान के धारक हैं अत उनका उपदेश सच्चा भी है।

आप्त के वचनो की सत्यता का प्रमाण आचार्य समन्तभद्र देते हैं—

"स त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति शास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्ट ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ।"[1]

हे अर्हन् ! आपके वचन युक्ति व शास्त्र (आगम) से अविरोधी हैं तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणो से अबाधित हैं, अतएव आप्त के वचनो की सत्यता प्रमाणित है।

आप्त के उपदेश से राग द्वेषादि का अभाव होता है तथा अल्पकाल मे सर्व दु खो से मुक्त हो जाता है वही आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं —

"जो मोहरागदोसे णिण्हदि उवलब्भ जोण्हमुवदेस ।
सो सव्वदुक्खमोक्ख पावदि अचिरेण कालेण ॥"[2]

अत आप्त वीतराग भाव पूर्वक स्वतत्र वस्तु व्यवस्था प्राणिमात्र के हित मे है इसलिये भी उनका उपदेश हितकारी होता है।

इस प्रकार आत्मस्वरूपमय दशा से युक्त आप्त का उपदेश भी आत्महितकारी होने से उन्हे हितोपदेशी कहा जाता है। क्योकि जिसने आत्मा को नही जाना, अपना हित कर परमोत्कृष्ट अवस्था को नही पाया, उसका उपदेश आत्महितकारी व पर्याय की पामरता गिराने वाला कैसे हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मस्वभाव मे पारगत व्यक्ति ही वीत-रागता, सर्वज्ञता व हितोपदेशिता आदि गुणो से विभूषित होने से आप्त कहलाता हैं। तथा आत्ममय हो जाना ही आत्मा का धर्म है —

"निज स्वरूप मे लीनता आतमधर्म बखानि ।"[1]

तथा आप्त उससे युक्त परिणति वाले होने से सुखधाम के मूल है। तथा हमारे अभिलापात्मक प्रयत्न आत्म स्वरूप से विपरीत परिणति वाले होने से धर्म के विपरीत है, दु खवर्धक हैं।

१–आप्त मीमासा आ समन्तभद्र, कारिका ६। २–प्रवचनसार गाथा ८८।

१–प० जयचन्दजी छावडा कृत बारह भावना।

युवाशक्ति, समाज और धर्म

—एम० एल० जैन 'राकेश' (किशनगज बाजार)

कहा गया है child is the father of man वास्तव मे आज का बच्चा ही कल का युवक कर्णधार होगा इसलिए प्रारम्भ से ही यदि आधार स्तम्भ मजबूत होगे तो जैन समाज प्रत्येक दृष्टि से प्रगतिशील, सगठित तथा जागरुक होगा। चाहे सामाजिक उत्थान की बात हो चाहे जैनधर्म, गौरव तथा सभ्यता सस्कृति की रक्षा की बात हो, युवा–वर्ग मे साहस तथा जोश की आवश्यकता है। यही कारण है जैन धर्म की उन्नति का मार्ग लगभग अवरुद्ध हो जाने के कारण युवा–वर्ग सर्वाधिक चर्चित विषय है। समाज का भावी प्रारूप ही युवा–वर्ग के रचनात्मक कार्यो पर निर्भर करता है। पर युवा–वर्ग चूकि समाज का अग मात्र है, बहुत सी बातो से प्रभावित होता है अत इस सन्दर्भ मे समाज की स्थिति पर गौर करना जरूरी है।

वैसे तो जैनियो के दोनो सम्प्रदाय मे मेल तथा सहयोग रहना चाहिए पर दिगम्बर तथा श्वेताम्बर की बढती हुई खाई को निकट भविष्य मे पाटना कठिन जान पडता है। दिगम्बर जैन समाज को ले। आज समाज मे आपसी मनमुटाव, वैमनस्य, विरोधी भावनाओ, छल–कपट तथा द्वेष का बोलबाला है, एकता, प्रेम, सहयोग तथा सहानुभूति की मानो होली जल गयी है। एक दूसरे का अहित चाहते हुए कमजोर को दबाते हुए लोग ऊपर उठना चाहते है। अमीर–गरीब की खाई गुटबाजी को प्रोत्साहन देती है। मतभेद सार्वजनिक जीवन मे उभर कर आते हैं तथा वातावरण को विषम बनाते हे जिसका कुप्रभाव आने वाली पीढी पर पडता है। हमारे समाज मे वैचारिक मतभेद तो कम है पर व्यक्तिगत, आर्थिक तथा अन्य कारणों से मतभेद अधिक है। निर्देशक बहुत हैं पर कार्यकर्त्ता कम हैं, प्राय देखा जाता है कि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्ति सामाजिक कार्यो मे आर्थिक मदद तो कर देते हैं पर कार्यकर्त्ता के रूप मे कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य नही करते, इसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेते है (हालाकि सभी ऐसे नही होते) कार्यकर्त्ताओ को उचित सम्मान नही मिलता है उन्हे हतोत्साहित करने वाले भी बहुत से होते है। ऐसा विचारो की सकीर्णता के कारण होता है। विचार विकसित तथा निश्छल रहने पर विशेष लगन तथा जोश समाज मे विद्यमान रहता है। पर ऐसा कम ही देखने को मिलता है। जैसे सरकार के साथ विपक्षी दल होते है जिनके कार्यो मे से एक प्रमुख कार्य, सरकारी कार्यों की

ालोचना करना होता है उसी तरह जैन समाज मे भी सामाजिक कार्यों बाधक लोग ोते हैं, ऐसे लोग स्वयं कुछ नही करते पर कार्य करने वालो को नीचा दिखाने की असफल चेष्टा करते रहते हैं। मिलाजुला कर कहा जा सकता है कि समाज का वातावरण दूषित हो गया है। पुराने रूढिवादी विचार, सकीर्णता, आडम्बर की बाहुल्यता मतभेद, आर्थिक असमानता के कारण गुटबाजी तथा अन्य धार्मिक त्रुटियां इस तरह समाज मे घर कर गयी हैं कि हमारा भविष्य उज्जवल नही रह गया है। बुराईयां उभरकर सामने आ रही है और अच्छाइ धूमिल होती जा रही है।

सब कुछ का असर युवा–वर्ग पर पडता है। धार्मिक, आर्थिक तथा सामाजिक दिशाहीनता के कारण युवा–वर्ग मार्ग से भटक रहा है। जितना समय वह अनुपयोगी मदो पर बर्बाद करता है उतना ऐसे कार्यों मे लगाये जो जनहित मे हो तो समाज खुशहाल हो सकता है। युवा शक्ति का उपयोग करना समाज के हाथ है, बुजुर्गों के हाथ है क्योंकि बुजुर्ग अनुभवी होते हैं, भले ही उनकी विचारधारा अपेक्षाकृत कम आधुनिक हो। समाज मे ऐसी प्रतिभा भी हैं जो सहारा मिलने पर उन्नति कर सकती है पर उस प्रतिभा का, उस व्यक्तित्व का नाश हो जाता है सिर्फ वातावरण तथा साधन के अभाव मे, क्यो? समाज का कुछ दायित्व नही है। क्या कारण है अधिकतर लोग व्यापार मे लग जाते हैं, न उच्च शिक्षा, न उच्च सम्मानित पद और न ही कलात्मक सेवा मे घनी। देश मे इतनी बडी सख्या मे जैनी है पर देश का प्रतिनिधित्व करने वाले पदो पर इने–गिने ही है। खेलकूद, कला, राजनीति, प्रशासनिक सेवा, न्याय तथा अन्य क्षेत्रो मे भी जैनियो का अभाव है। युवको के लिए बेरोजगारी भी एक समस्या है, अग्रवालो के सम्मेलनो मे तो इसकी चर्चा भी होती है पर हमारे सम्मेलनो मे कभी ऐसा सुना ही नही। समाज अपना दायित्व नही निभा रहा है तथा युवा पीढी को मार्गदर्शको की कमी है। भौतिक और आधुनिकता की आड मे युवा–वर्ग नैतिकता को ताक पर रख रहा है। आज चरित्र निर्माण तथा सादगी की जरूरत है, अपने से नीचे वालो को उठाना सर्वाधिक जरूरी है। युवा–वर्ग वैचारिक क्राति ला सकता है पर सभी का सहयोग चाहिए। विभिन्न सगठनो मे भावात्मक तथा वास्तविक एकता आवश्यक है। एक प्रश्न प्राय उठता है कि नवयुवक वर्ग धर्म-ध्यान मे रुचि नही लेते। आज का इन्सान चमत्कारिक कहानियो पर विश्वास नही करेगा। उसे तर्क की कसौटी पर खरा उतरने वाला विचार और सिद्धान्त चाहिए।

आजकल "जिसे जो मन मे आता है जैस मन होता है किताबे लिख देते हैं और आपस मे लडने का मसाला मिल जाता है पर यही सिद्धात भेद तथा काल्पनिक चर्चा युवा–वर्ग के विश्वास मे धर्म के प्रति सम्भवत विमुखता ला रही है।

पत्रकार सामाजिक चेतना लाते हैं –समाज की बुराइयो को सदस्यो के मानस पटल पर रखकर उसका समाधान खोजने मे पत्रकार का बडा हाथ रहता है। पर जैन पत्रकारिता स्वतत्र निर्भीक तथा निष्पक्ष नही लगती। मेरा व्यक्तिगत विचार है पत्रकारिता यदि व्यवसाय है तो वह कई बाहरी कारणो से प्रभावित होगी पर पत्र–कारिता जिसके लिए शौक है वह अपना कार्य स्वतत्रता से अवश्य कर सकता है। जन पत्र-पत्रिकाये न लोकप्रिय हो सकी हैं और न ही प्रभावशाली। सामाजिक बुराइयो का चित्रण कही नही मिलता है। हाँ कुछ ऐसी पत्रिकाये अवश्य हैं जो वाक्य युद्ध मे लिप्त रहती है। इससे तो अच्छा है सामाजिक तथा वैचारिक क्रान्ति लाने वाले विषयो पर चर्चा हो। सामाजिक बुराइयो को दूर करने पर पत्रकार ध्यान दिलाये। नयी प्रतिभा को उठने का मौका दे, न कि लेखक की रचना ही हजम कर जाये और पाँच–सात महीने तक पीछे पडे रहने पर उत्तर दे कि रचना अस्वीकृत होने हर नही लौटाते है। ऐमे भी पत्रकार जैन समाज मे हैं।

दिव्यालोक के माध्यम से युवा–वर्ग से अनुरोध है कि कुछ समय धर्म, समाज के लिए भी निकाले। हमारे बीच आयी कुरीतियो, आडम्बरो को उखाड फेकने की जरूरत है, सगठित हो जाये। सगठन वास्तविक हो कागजी नही।

—❀—

["धर्म के मूल आप्त" पृष्ठ २४ का शेष]

यह बात आगम पद्धति से भी युक्ति सगत है। दर्शन धर्म का मूल है तथा चारित्र साक्षात् धर्म है ऐसा आगम वचन है। यहाँ सम्यक्चारित्र व सम्यग्दर्शन लेना चाहिये तथा आप्त इन दोनो की पूर्णता की स्थिति है तथा वे दर्शन चारित्रमय धर्म स्वरूप के उद्घाटक हैं, अत आप्त को धर्म का मूल कहना युक्त पूर्ण है।

इस प्रकार आप्त के स्वरूप ज्ञान पूर्वक भव-विनाशक आत्ममय परिणति रूप धर्म का प्रारम्भ हमारे जीवन मे हो यही विवेचन का मूल लक्ष्य है। इसके बिना आप्त को जाना न जाना बराबर है। ❀

कितना काम, कितना नाम : इन संस्थाओं का

—प० रतनचन्द भारिल्ल, जयपुर

दिगम्वर जैन समाज मे आज अनेक समितियां, सभायें और परिषदें, हैं उनमें अनेक तो अखिल भारतीय स्तर की हैं तथा अनेक प्रान्तीय स्तर की भी हैं सभी परिषदें अपने-अपने क्षेत्र मे अपने-अपने उद्देश्यो के अनुरूप थोड़ी वहुत गतिविधियां समय समय पर करती ही रहती है यह वात अलग है कि कौन कितना किस रूप मे समाज को प्रभावित कर पाते है और उनसे समाज भी कितना क्या लाभान्वित हो पाता है।

कुछ समितियां और परिषदें तो ऐसी हैं जो धर्म निरपेक्ष रह कर मात्र सामाजिक स्तर पर ही कुछ काम करना पसन्द करती हैं। यह काम भी वुरा तो नही है परन्तु इसमे सफलता की आशा दुराशा मात्र ही है, सामाजिक सुधार तो वाई-प्रोडेक्ट होना चाहिए, वाई–प्रोडेक्ट से मेरा तात्पर्य यह है कि जैसा मील तो तेल के उत्पादन हेतु लगाया जाता है और खली वाईप्रोडेक्ट हो जाती है। ठीक इसी प्रकार तत्व प्रचार, धर्म प्रभावना और आत्मकल्याण का पुरुषार्थ तो हम मूलत प्रयत्न पूर्वक करें तथा तत्वाभ्यास के वल से जव मानस मे चेतना जागृत होगी, जीवन सदाचारमय होगा, कषायें कम होगी तो समाज सुधार तो आपो–आप हो जायेगा। उसमे अलग से शक्ति का अपव्यय करने से क्या लाभ ? और विना तत्वाभ्यास के सामाजिक दुर्गुण-कुप्रथायें मिटाना सभव भी तो नही है। धर्म भावना ही एक मात्र ऐसा साधन है जो लोभादि कषायो को कम कर सकता है।

हां शासन की वात अलग है, शासन मे विभिन्न सस्कृति व विभिन्न धर्म (दर्शन) की मान्यता वाले लोग होते है उसमे किसी विशेष धर्म को महत्व नही दिया जा सकता अत वहाँ धर्म निर्पेक्षता की नीति ही उचित है, फिर भी धर्म निर्पेक्षता का अर्थ धर्म विहीनता से नही है। शासन का तो सर्व दर्शनो को समान महत्व देते हुये सवका सरक्षण करना कर्तव्य है। परन्तु हमारे सगठन तो एक मात्र दिगम्वर जैनो के ही सगठन है। वस्तुत देखा जाय तो यह तो विशुद्ध धार्मिक सगठन ही है। अस्तु—

यदि विशुद्ध सामाजिक स्तर पर ही काम करना अभीष्ट है तो इसमे भी कोई वाधा नही परन्तु कितनी सफलता मिलती है इसका भी तो कुछ लेखा–जोखा करें।

मात्र अधिवेशनो में प्रस्ताव पारित कर लेने से, बडी-बडी सभाओ मे भाषणो के सु-अवसर खोज लेने से, समाज को भला बुरा कह कर उन्हे मन ही मन कोस लेने से तो काम नही चलेगा। कभी-कभार पत्रिकाओ मे जोशीले लेख छापने से भी समाज मे सुधार सभव नही है सामाजिक सुधार के लिए समाज की भावनाओ मे परिवर्तन की जरूरत है, जो धार्मिकता के बिना सभव नही होगा. जब उन्हे ससार शरीर और भोगो से विरक्ति आवेगी, ससार का सुख कडवा लगेगा, वे इससे मुक्त होना चाहेगे। देव-शास्त्र-गुरु मे श्रद्धा होगी, तत्वो का अभ्यास होगा, कर्म सिद्धात को समझेगे, आत्मा की रुचि जागृत होगी तब कही जाकर समाज मे कुछ परिवर्तन आ सकता है। इस सबके लिये धर्म का वातावरण अति आवश्यक है।

कुछ परिषदे केवल पर्वोत्सवो पर कुछ कार्यक्रम देकर अपने कर्तव्य की इति भी मान लेती है। कुछ तो केवल चुनाव उद्घाटन, अधिवेशन, मीटिंग, भाषण और अन्त मे वे विसर्जन तक ही सीमित रह जाती हैं, इन सबके बल पर कोई भी सस्था दीर्घ काल तक जीवित नही रह सकती।

दूसरे कुछ परिषदे ऐसी भी हैं जो शास्त्रो के कथनो मे नयार्थ, मतार्थ, भावार्थ, आगमार्थ के अभिप्राय को ठीक से ग्रहण न कर पाने के कारण और इस ओर गहराई से चिन्तन के अभाव मे कथन पद्धति मे ही उलझी रहती है और हर विषय के विवाद का मुद्दा बना लेती है ये स्वय तो उलझी ही रहती हे कुछ भोली-भाली जनता को भी उलझा देती है। इनकी प्रणाली से लगता है ये अब सुलझाने के मूड मे भी नही है क्योकि अब इनके अस्तित्व का आधार मात्र यह विवाद ही बन गया हैं। क्योकि अन्य रचनात्मक कार्यो की योजना इनके पास नही है।

काश ! ये सब सभाये, परिषदें कोई रचनात्माक कार्य करे, समाज के निर्माण मे कुछ ठोस कदम उठाये, ऐसा निर्णय ले कि आत्महित मे ही समाज का हित निहित है एक-एक इकाई का समूह ही तो समाज है, व्यक्ति सुधरेगा तभी ही समाज सुधरेगा। "व्यक्ति का सुधार धार्मिकता के बिना सभव नही है" ऐसा विचार कर धर्म को आगे रख कर समाज मे वीतराग धर्म की प्रभावना मे योग दान करे। इसके लिए स्थान-स्थान पर रात्रिकालीन धार्मिक पाठशालायें चलाये, गाव-गाव मे स्वाध्याय की परम्परा डाले, प्रवचनो के आयोजन करे, पूजन-पाठ, भजन-कीर्तन आदि के द्वारा समाज को सस्कारित करे। समय-समय पर विशेषकर पर्व के दिनो मे प्रवचन हेतु विद्वानो के साधन जुटावें, नये-नये विद्वान तैयार करने हेतु समाज को प्रोत्साहित करे। इन सब के द्वारा समाज का सगठन तो होगा। तत्व ज्ञान के अभ्यास से लोगो मे विवेक भी जागृत होगा, समता व शाति भी आवेगी उससे सामाजिक स्तर

भी सुधरेगा, लोगो की लोभवृति भी कम होगी अतएव दहेजादि कुप्रथाओ पर भी रोक लगेगी। जो काम वे पूरी ताकत लगा कर भी नही कर पा रहे हैं वह सहज ही हो जायेगा।

वर्तमान मे इस क्षेत्र मे नवगठित अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन काफीकुछ अच्छा काम कर रही है, थोडे ही समय मे इसकी सारे देश मे १३५ से अधिक शाखायें स्थापित हो चुकी हैं प्रत्येक शाखा अपने क्षेत्र मे उक्त प्रकार से रचनात्मक कार्यों मे अग्रसर है, स्थान-स्थान से ऐसे समाचार व रिपोर्ट उपलब्ध हो रहे हैं।

दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ का भी इस क्षेत्र में कम योगदान नही है वर्षों से यह ट्रस्ट शिक्षण शिविरो के माध्यम से स्वाध्यायी विद्वान तैयार कर रहा है। यह लिखते हुये गौरवान्वित हैं कि इस ट्रस्ट की प्रचार कमेटी प्रति वर्ष पर्यूषण पर्व पर शताधिक विद्वान भेजकर समाज को धर्म लाभ से लाभान्वित करती है इस वर्ष भी इस कमेटी ने देश के विभिन्न भागो मे अपने यहाँ से १११ विद्वान प्रवचनार्थ भेजे हैं।

प० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट भवन जयपुर ने इस क्षेत्र मे जो अनुकरणीय कार्य किया है वह भी किसी से छिपा नही हैं, विगत १३शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरो द्वारा हजारो अध्यापक तैयार किये। गाव—गाव मे सैकडो नवीन पाठशालायें सचालित की, वर्तमान मे लगभग ३०० से अधिक पाठशालाये इस ट्रस्ट द्वारा सचालित हैं, नवीन पाठ्यक्रम परीक्षा—वोर्ड, साहित्य प्रकाशन आदि द्वारा समाज मे जो रचनात्मक कार्य हो रहा है उससे समाज गौरवान्वित है।

—❀—
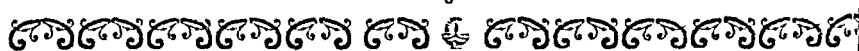
[जैन धर्म अनादि है। गौतम बुद्ध महावीर स्वामी के शिष्य थे। चौबीस तीर्थङ्करो मे महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर थे। यह जैन धर्म को पुन प्रकाश मे लाए, अहिसा धर्म व्यापक हुआ। इनसे भी जैन धर्म की प्राचीनता मानी जाती है।

पूर्व काल मे यज्ञ के लिए असस्य पशु-हिसा होती थी, इसके प्रमाण मेघदूत काव्य तथा और ग्रन्थो मे मिलते हैं। आजकल यज्ञो मे पशु हिसा नही होती। ब्राह्मण और हिन्दू धर्म मे भी मास भक्षण और मदिरापान बन्द हो गया सो यह जैन धर्म की छाप ब्राह्मण धर्म पर पडी।

—लोकमान्य तिलक]
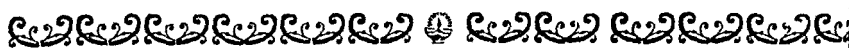
मुक्ति का अग्रदूत

श्रीयांश कुमार सिंघई, (जयपुर)

आज भी भौतिक और भोगोन्मुखी उपलब्धियो की प्रचुरता मे मानव के मानस मे "मुक्ति की चाह" विद्यमान है, इसका भी अपना औचित्य है।

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुखो से बचना चाहता है, परन्तु परलक्ष्यी प्रयत्नो एव परकर्तृत्त्व से उसके सुख की सारी कल्पनाये ढह जाती है। ढह ही जाना चाहिये क्योकि लोक मे विद्यमान सम्पूर्ण पर पदार्थ सुख की अनुभूति कराने मे असमर्थ है। भौतिक एव भोगोन्मुखी उपलब्धियो के दायरे मे सुख है ही नही फिर मिलेगा कहा से ? अत स्पष्ट है कि जब तक परपदार्थो का आश्रय रहेगा तब तक दु ख रहेगे और उनसे मुक्ति की चाह भी रहेगी। मुक्ति का अर्थ ही है बधनो से मुक्ति, दु.खो से मुक्ति इत्यादि।

दु ख आकुलता का ही नाम है तथा आकुलता का अभाव सुख और शाति के प्रतिष्ठान निजस्वभाव के अवलम्बन से ही होता है। आकुलता का अभाव अर्थात् निराकुलता ही वास्तविक मुक्ति है, इसे ही शास्त्रीय भाषा मे "मोक्ष" शब्द से अभिहित किया जाता है।

मोक्ष ही श्रेयस्कर है, क्योकि यहा ही जीव अनन्तकाल तक आत्मिक सुख का रसास्वादन करता है। आत्मिक सुख के अलावा अन्य सभी सुख, सुख की कल्पनाये है सुखाभास है। जिनकी चर्चा यहा अपेक्षणीय नही हे।

सच्चे सुख की प्राप्ति अर्थात् मुक्तदशा तक पहुचने के लिये "मुक्तिमार्ग" का अनुसरण करना आवश्यक है, मुक्ति मार्ग का अर्थ "सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्ग." से है। इस मार्ग पर आरूढ होने से पूर्व हमे ज्ञात करना होगा कि यह मार्ग कहा प्रारम्भ होता है ? और वहा तक पहुचने की अर्हताये क्या हैं ?

आगम से स्पष्ट हे कि सम्यग्दर्शन से पूर्व की भूमिका मे मोक्ष मार्ग नही होता है अत सम्यग्दर्शन ही इस मार्ग का प्रथम चरण है। जिसे "मुक्ति के अग्रदूत" शब्द से दर्शाया गया है।

अब प्रश्न है कि इस अग्रिम चरण तक पहुचने के लिए मोक्षाभिलाषी जीव क्या करे ?

समाधान-तत्त्वाभ्यास के बल से सच्चे देव-शास्त्र गुरु की श्रद्धा पूर्वक साता तत्त्वो का यथार्थ स्वरूप समझकर अपने और पराये का भेदविज्ञान करे तथा विकारी भावो से रहित अनन्तगुणो का घनपिंड और आनन्द का कन्द "आत्मा ही मै हू" ऐसा जाने माने अर्थात् श्रद्धान करे तो वह अग्रिम चरण दूर नही। मोक्षाभिलाषी जीव का सदैव यही प्रयत्न होना चाहिये।

तथा प्रारम्भिक भूमिका मे तत्त्वविचार ही कार्यकारी है, तत्त्वविचार की महिमा का प्रतिपादन आचार्यकल्प पडितप्रवर टोडरमल जी ने निम्नानुसार किया है –

"देखो, तत्त्वविचार की महिमा! तत्त्वविचार रहित देवादिक की प्रतीति करे, बहुत शास्त्रो का अभ्यास करे, व्रतादिक पाले तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होने का अधिकार नही और तत्त्वविचार वाला इनके बिना भी सम्यक्त्व का अधिकारी होता है।"

यहा ध्यान रहे कि शास्त्रो का अभ्यास और तत्त्वविचार करने मे बहुत बडा अन्तर है क्योकि शास्त्रो का अभ्यास तो मानपोषण के लिये भी किया जाता है और तत्त्वविचार केवल मान के अभाव के लिये ही किया जाता है। तत्त्वविचार तो मात्र वस्तुस्थिति समझने का सार्थक प्रयत्न है तथा वस्तुस्थिति समझने पर आकुलता का अभाव हुये बिना नही रहता, अवश्य ही दुखो से छुटकारा मिलता है।

इस प्रकार जब हम तत्त्वविचार पूर्वक सुखी होने के लिये सच्ची जिज्ञासा से प्रयत्न करते हैं तब अक्षय सुख और शान्ति का निकेतन जो हमारा आत्मा है उससे साक्षात्कार हुये बिना नही रहता है। बस यही सम्यग्दर्शन की शुरूआत है।

यहा कुछ लोग कहते है कि आत्मसाक्षात्कार बिना ही सम्यग्दर्शन हो जाता है, उनका कहना कहा तक ठीक है वे ही जाने। मैं तो आगम के आधार पर सिद्ध करना चाहता हू कि आत्मसाक्षात्कार हुए बिना सम्यग्दर्शन की शुरूआत होती ही नही। ध्यान रहे कि सम्यग्दर्शन के बने रहने मे आत्मानुभव की आवश्यकता नही है परन्तु सम्यक् श्रद्धा की शुरूआत तभी होगी जब आत्मानुभव होगा, अर्थात् इन्द्रिय-निरपेक्ष ज्ञान की आत्मसन्मुख पर्याय अवश्य होगी।

जब किसी साधारण चीज की श्रद्धा भी उसके गुण दोषो को जाने बिना नही हो सकती है तो फिर अनादिकाल से जिस भगवान स्वरूप निज आत्मा को नही जाना उसकी श्रद्धा उसे जाने बिना कैसे हो सकती है, कदापि नही हो सकती।

अब प्रश्न है कि अनादिकाल से हमे आत्मा के वास्तविक स्वरूप का भान क्यो नही हुआ इसका कारण परज्ञेयलोलुपता और पराधीन इन्द्रिय जन्य ज्ञान व्यापार ही कहा जा सकता है। जो आज तक हमे आत्मा के स्वरूप को जानने मे बाधक बना रहा क्यो न हम इन्द्रियातीत ज्ञान द्वारा स्वाधीन होकर आत्मा को जाने। यदि हम ऐसा करते है, तो अवश्य ही आत्मा हमारी समझ मे आयेगा और उसी क्षण जगत् के सम्पूर्ण परपदार्थ हमे तुच्छ प्रतीत होगे एकमात्र निज आत्मा ही ऐसा लगेगा कि इससे अन्य कोई भी महिमावन्त पदार्थ जगत् मे है ही नही। बस उसी समय बिना किसी कालभेद के हमे निजआत्मा की श्रद्धा हो जायेगी यही सम्यग्दर्शन है। इन्द्रियातीत ज्ञान की विशेष पर्याय का आत्मसन्मुख होना आत्मानुभूति है। अतीन्द्रिय आत्मोन्मुखी ज्ञान की पर्याय के व्यतीत हो जाने पर भी सम्यग्दर्शन बना रह सकता है।

इन्द्रियजन्य ज्ञान मे अरस, अरूपी आत्मा को जानने की सामर्थ्य है ही नही अत· आत्मा को जानने के लिये ज्ञान का अतीन्द्रिय अर्थात् स्वाधीन होना अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञान की स्वभावोन्मुख अतीन्द्रिय पर्याय ही अनुभव है क्योकि पचाध्यायी उत्तरार्थ श्लोक सख्या ४०२, मे स्पष्ट उल्लेख है कि सम्यग्दर्शन के लक्षण मे जो आत्मा का अनुभव है वह आत्मा का विशिष्ट ज्ञान है और वह सम्यक्त्व की उत्पत्ति मे अविनाभावी है। श्लोक इस प्रकार है —

तत्राप्यात्मानुभूति सा विशिष्ट ज्ञानमात्मन ।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद्व्यतिरेकत ॥

तथा जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग १, पृष्ठ ८४ पर लिखा है कि "आत्मानुभूति के बिना सम्यग्दर्शन नही होता"— इसकी पुष्टि मे रयणसार की निम्न गाथा भी उद्धृत है—

णियतच्चुवलद्धि विणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण ।
सम्मत्तुवलद्धि विणा णिव्वाण णत्थि जिणुद्दिट्ठ ॥२०॥

स्पष्ट ही है कि निजतत्त्वोपलब्धि अर्थात स्व-आत्मतत्त्व की प्राप्ति के बिना सम्यक्त्व की प्राप्ति नियम से नही होती है और सम्यक्त्व को पाये बिना निर्वाण (मोक्ष) नही हो सकता ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

यहा कुछ लोगो का कहना है कि निजतत्त्व उपलब्धि (स्वानुभूति) सम्यक्त्व के बिना नही हो सकती है उनसे मेरा कहना है कि निजतत्त्वोपलब्धि और सम्यक्त्व

की उत्पत्ति मे कालभेद है ही नही। जिस समय स्वानुभूति (निजतत्त्वोपलब्धि) हो
उसी समय सम्यक्त्व हो जायेगा अत निजतत्त्वोपलब्धि के काल मे सम्यक्त्व होता
है, उसके न रहने का प्रश्न ही नही उठता।

जैन समाज मे सर्वत्र प्रचलित एव प्रतिष्ठितग्रन्थ छहढाला मे उद्धृत पं
"सम्यक् साथै ज्ञान होय . " भी सम्यक् श्रद्धान और सम्यग्ज्ञान मे कालभे
स्वीकार नही करती है कम से कम जैनमतावलम्बियो को तो इसमे कोई विप्रतिप
नही है। आत्म समर्पित अतीन्द्रिय ज्ञान की विशेष पर्याय को सम्यग्ज्ञान कहना अति
शयोक्ति नही, वस्तु स्थिति ह।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति और निज आत्म स्वरूप की प्राप्ति मे अविनाभा
सवन्ध है अत सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु समस्त चेतन अचेतन परपदार्थो से भि
तथा विकारी-अविकारी भावो से भी भिन्न ध्रुव शाश्वत ज्ञानादि अनन्तशक्तियो क
अखड पिण्ड "आत्मा" ही मैं हू ऐसा विकल्पात्मक निर्णय करना चाहिये, फिर उ
विकल्प से भी मुक्त होकर निजज्ञानादि उपयोग को स्वस्वभाव मे ही केन्द्रीभूत करें त
आत्मा का ज्ञान अर्थात् अनुभव हुए विना नही रहता है, निजस्वरूप की प्राप्ति होत
है, और उसी क्षण आत्मा के प्रति अनन्य श्रद्धा पैदा हो जाती है यही सम्यग्दर्शन है

आगम में सम्यग्दर्शन का लक्षणनिर्देश अपेक्षाओ वश पृथक्-पृथक् मिलता
जैसे सच्चा तत्त्वार्थ श्रद्धान करना, आपापर का श्रद्धान करना, आत्म श्रद्धान करना
देवगुरु-शास्त्र का श्रद्धान करना आदि सम्यग्दर्शन है।

यदि हम निष्पक्ष विचार कुशलता का सदुपयोग करें तो सभी का प्रयोज
एक मात्र वीतरागता की पुष्टि करना तथा स्वावलम्वी बनाकर मुक्ति के मार्ग
लगाना ही प्रतीत होता है।

अपने और पराये का भिन्नतापूर्वक श्रद्धान होने पर तत्त्वार्थश्रद्धान का प्रयोज
भासित होता है और जीवादि तत्त्वो का यथार्थ स्वरूप जानने पर वस्तु के स्वरूप क
व अपने हित और अहित का श्रद्धान होता है तभी मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है
तथा आत्मश्रद्धान को लक्षण कहने का तात्पर्य मूलभूत प्रयोजन को मुख्यत
से समझाना है वह प्रयोजन है—

"आपा पर के भिन्नता पूर्वक श्रद्धान के पश्चात् स्व को स्व जानते हुए भी पर
को जानने का विकल्प कार्यकारी नही है। एक मात्र आत्मा को जानकर श्रद्धान करन
ही हितकारी है।

(शेष पृष्ठ ३६ पर

समाजवाद और अपरिग्रह

—श्री मोरारजी देसाई

अपरिग्रह और समाजवाद यदि अमल मे नही लाया जाता तो उस पर चितन करना वेकार हे, यदि धर्म का चितन किया जाए तो उसे अमल मे भी लाना चाहिए। धर्म वही है जो अमल मे लाया जावे। जो विचार काम मे न लाया जाए वह वेकार है। यदि विचार कार्य मे समन्वय व तादात्म स्थापित न हो तो उस पर चितन करना वेकार ही होता है। यदि धर्म का चिंतन करते हैं तो अच्छा होगा ही, यह ज्यादा अच्छा है कि उसे अमली जामा पहनाया जाए।

मनुष्य नास्तिक कैसे वनता हे ? व्यक्ति मन्दिरो मे जाकर पूजा करने के बाद अधर्म करता है उसका प्रभाव समाज पर बुरा पडता है और जो उसे देखते हैं उसकी धर्म से आस्था हटती जाती है अत वह नास्तिक हो जाता है।

यू तो अपरिग्रह सभी धर्मो का आधार हे। अपरिग्रह कहने से नही करने से होता है। समाज के सभी धर्मो के लिए अपरिग्रह के लिए अलग-अलग व्याख्याए हैं, साधुओ के लिए अलग, गृहस्थो के लिए अलग। हमे व्याख्या करनी है अपने लिए न कि दूसरो के लिए। यह सभी बाते भगवान महावीर ने अच्छी तरह हमे समझाई थी भगवान महावीर का निर्वाणोत्सव जब हम मनाते है तो हमे खुशी होती है लेकिन वह तभी सफल हो सकती है जब हम अमल कितना करते है। उद्देश्य जितना अच्छा है उतना ही उसका पालन भी आवश्यक हे।

अपरिग्रह के लिए प्रथम बात है कि इच्छा को जैसे चाहे मोडे। बुरी इच्छा न करे यदि सद्इच्छा भी करे तो परिमित ही रखे।

अपरिग्रह की व्याख्या है कि कोई भी अपनी जरूरत से ज्यादा न रखे। सन्तो से लिये कहा हैं कि लगोटी न पहने या जैसा मिले वैसा खा ले। सर्दी और गर्मी मे साधु, अपने को उसके अनुरूप ही वना लेता है, वुद्धि का अपरिग्रह, जिसमे मनुष्य उपयोगी होने की कोशिश करे व अपने को पवित्र रखे। साधुओ के परिग्रह का परिमाण दूसरा हे।

गृहस्थी के लिये जितनी आवश्यकता हो उतना रखें बाकी छोड दें। लक्ष्मी और सरस्वती के बारे मे कहा जाता है कि वे ऐसी हैं जिनका उपयोग करने से बढती है तथा दबाकर रखने से घटती है लेकिन यहा पर उपयोग करने का अर्थ है परो-पयोग।

अपरिग्रह और समाजवाद का क्या सम्बन्ध है ? अपरिग्रह के सिद्धात समाज-वाद से भी आगे है। जहाँ समाजवाद की सीमा है उससे आगे अपरिग्रह है। समाज-वाद अपरिग्रह मे ही निहित है। अपरिग्रह का लक्ष्य भगवान व मनुष्य को एक बनाना है। धर्म क्या है ? धर्म एक है। मानव धर्म है कि मनुष्य-मनुष्य का शोषण न करे। समाज मे ऊच-नीच का भेद न हो। आर्थिक असमानतए कम हो। मनुष्य-मनुष्य समाजवाद मे समान होता है। इस प्रकार अपरिग्रह और समाजवाद का अटूट सबध है। समाजवाद लोकतात्रिक तरीके से ही आता है तानाशाही से नही।

- oo —

(पृष्ठ ३४ का शेष)

देवगुरु-शास्त्र के श्रद्धान को बाह्यसाधनो की मुख्यता से लक्षण कहा क्योकि सच्चेदेव-गुरुशास्त्र सच्चे तत्त्वश्रद्धान मे निमित्त होता है तथा कुदेवादिको के द्वारा कल्पित आडम्बरो से युक्त कुतत्त्वश्रद्धान के परिहार मे भी। अत निमित्त की अपेक्षा से इसको भी लक्षण कहा गया है।

सूक्ष्मदृष्टि से अवलोकन करने पर ज्ञात होगा कि सर्वत्र तत्त्वार्थश्रद्धान की प्रमुखता भासित होती है। क्योकि सभी तत्त्वार्थश्रद्धान मे समाहित हैं।

सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग ही प्रारम्भ नही होता, मोक्ष होना तो दूर रहा अत अनन्तकाल पर्यन्त सुखी होने के लिए सम्यग्दर्शन का होना प्रमुख एव आवश्यक है। एक बार सम्यग्दर्शन हो जाने पर ससार का अभाव होता ही होता है यदि ससार मे भटकना ही पडा तो अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त कम अर्धपुद्गलपरावर्तन काल तक ही भवभ्रमण रहेगा, इसके पश्चात् हमेशा-हमेशा के लिये अक्षय सुखी होना ही पडेगा यह सम्यग्दर्शन का ही महात्म्य हे जो हमे सुख की अनुभूति कराकर पूर्णसुख की ओर अग्रसर करता है।

सम्यक्त्व के बिना कोई भी अवसर (मौका) सुखी होने का नही है। अत सभी लोग मोह की गहल मे न फसकर अनादिकालीन मिथ्यामान्यताओ को छोडकर एक मात्र भगवान स्वरूप निज आत्मतत्त्व का आश्रय लेकर मुक्ति के अग्रदूत स्वरूप सम्यग्-दर्शन को प्रगट कर मनुष्य भव का सदुपयोग करे तथा मुक्ति के मार्ग पर आरूढ हो, यही कामना है। ❀

व्रत और बाल व्रत

—प० बंशीधर शास्त्री, M A. (जयपुर)

आचार्य उमास्वामी ने व्रत की परिभाषा स्वरूप निम्न सूत्र की रचना की है—

हिंसाऽनृतस्तेया ब्रह्म परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् । (अ॰ या॰ ७ सूत्र १)

हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह से निवृत होना व्रत है।

व्रत दो तरह के हैं—

देश सर्वतोऽणुमहती, (अ, ७ सूत्र २)

उक्त पाच पापो का एक देश त्याग अणुव्रत एव सर्व देश त्याग करना सो महाव्रत है।

सूत्रकार ने व्रतो का लक्षण वताते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि व्रती निशल्य होता है। वस्तुत निशल्य वही हो सकता है जो सम्यग्दृष्टि हो। मिथ्य त्व, माया एव निदान के शल्य का अभाव सम्यग्दृष्टि के ही हो सकता है। इसका यह भी फलितार्थ होता है कि उक्त व्रत यथार्थ रूप से सम्यग्दृष्टि ही पालता है।

इन प्रतो के स्वरूप एव महत्त्व से शास्त्रो के अनेक पृष्ठ भरे पड है। इन व्रतो के फलो की गाथा पौराणिक साहित्य मे सर्वत्र उपलब्ध होती है।

इन व्रतो के साथ रत्नत्रय सोलह, कारण भावना, दश धर्मो आदि की भावना एव ज्ञान प्रत्येक व्रती के लिए अनिवार्य रहे है किन्तु समय पाकर रत्नत्रय आदि भावनात्मक कृत्यो को उपवास का रूप दे दिया गया, उनके लिए दिन भी निश्चित कर दिए गए एव उपवास ही व्रत के नाम से कहलाने लगे। श्रावकाचार ग्रन्थो यथा रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अमितगति श्रावकाचार, सागार धर्मामृत, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, आदि मे मूलगुण, बारह व्रतो, ग्यारह प्रतिमा, सल्लेखना का वर्णन है। बारह व्रतो के अन्तर्गत 'प्रोपधोपवास' का वर्णन है जिसका स्वरूप इस प्रकार है—अष्टमी और चतुर्दशी के पहले एव पीछे के दिनो मे एकाशनपूर्वक अष्टमी एव चतुर्दशी को उपवास आदि करके एकातवास मे रहकर सपूर्णसावद्य योग को छोड सर्व इन्द्रियो के विषय से विरक्त

होकर धर्म ध्यान मे लीन रहना सो प्रोपधोपवास है। रत्नत्रय, सोलह कारण आदि के लिए मास विशेष मे दिन निश्चित कर उन दिनो एकाशन, प्रोपधोपवास, वेला, तेला आदि शक्ति अनुसार किए जाने का विधान किया गया फिर उसके बाद 'उद्यापन' भी किए जाने का विधान किया गया। व्रत की समाप्ति के अवसर पर किए जाने वाले कृत्य यथा हवन आदि को वैदिक परम्परा मे उद्यापन कहा जाता है। जैन परम्परा मे हवन हिंसात्मक होने के कारण विधेय नही रहा इसलिए व्रतसमाप्ति पर उद्यापन के रूप मे मन्दिरो मे उपकरण आदि देने की परम्परा रही है।

कभी भावनात्मक आत्मशुद्धिकारक अवसरो पर किए जाने वाले उपवासो को ही व्रत का नाम दिया गया था। पद्मपुराण और आदिपुराण मे दशलक्षण रत्नत्रय, षोडशकारण और अष्टाह्निका व्रतो का उल्लेख है वसुनन्दि श्रावकाचार मे पचमी व्रत, रोहिणीव्रत, अश्विनी व्रत सौख्य सम्पत्तिव्रत, नन्दीश्वर, पक्ति व्रत, विमान पक्ति व्रत का उल्लेख है। हरिवश पुराण मे सर्वतोभद्र. बसतभद्र महासर्वतोभद्र, रत्नावली उत्तम–मध्यम जघन्य सिंहनिष्क्रीडित आदि महोपवासो का वर्णन किया गया है। आराधना कथा कोश और रविषेण कथाकोश मे महत्त्वपूर्ण व्रतो यथा रत्नत्रय, सोलह-कारण आदि व्रत को सम्पन्न करने वाले व्यक्तियो की कथाए उपलब्ध हैं। इस प्रकार सस्कृत, प्राकृत आदि के प्राचीन एव प्रामाणिक ग्रन्थो मे इस प्रकार व्रतो या उन्हे करने वाले व्यक्तियो का उल्लेख बहुत सीमित है। किंतु जब हम भट्टारकीय युग चौदहवी से सोलहवी शताब्दी के साहित्य को देखते हैं तो व्रतो एव उनको करने वाले व्यक्तियो की कथाओ का इतना अधिक विवरण मिलता है कि यह आश्चर्य होता है कि इतने व्रतो का आविर्भाव अचानक कहाँ से हो गया इन कथाओ का वर्णन भी पौराणिक साहित्य की परम्परा के अनुसार राजा श्रेणिक की शका पर भगवान महावीर द्वारा कराया गया है। वस्तुत भट्टारको ने अनेक व्रतो की कल्पना अपने से ही की थी, उनकी विधि एव उनके करने वालो को अद्भुत फल मोक्ष तक की–प्राप्ति का उल्लेख भी इन कथाओ मे किया गया है।

जैन पुस्तक भवन, कलकत्ता से श्रावकव्रत कथा सग्रह प्रकाशित हुई है। पुस्तक का सपादन प० श्री कस्तूर चन्द जी छाबडा विशारद ने किया है। इसमे कोई प्रस्तावना नही है अत इन कथाओ का आधार आदि का ज्ञान नही होता है। इसमे व्रत के अतिरिक्त दान से सम्बन्धित कथाए भी दी गई है। व्रतो से सबधित कथाओ को पढने के पश्चात् निम्न परिणाम निकलते है—

१–इनमे दशलक्षण, पुष्पाञ्जलि, अनन्त चतुर्दशी, सुगन्ध दशमी, मुक्तावली, रत्नत्रय, नन्दीश्वर, रविव्रत, षोडश कारण, श्रुतस्कन्ध, चन्दनषष्ठी, मेघमाला, लब्धी विधान, त्रिलोकतीज, आकाश पचमी, निर्दोष सप्तमी, नि शल्य अष्टमी, द्वादशी, मौन

एकादशी, कोकिला पचमी, गरुड पचमी, मुकुट सप्तमी, अक्षयफल दशमी, रोहिणी तथा श्रावण द्वादशी इन २५ व्रतो से सबधित कथाए हैं।

२–इनमे ८ कथाए पद्य मे है एव शेष १७ गद्य मे हैं।

३–पद्यात्मक कथाओ मे प्राय श्रेणिक राजा के पूछने पर भगवान महावीर द्वारा व्रत, व्रतफल आदि का विवरण दिया गया है।

४–२५ कथाओ मे से केवल एक कथा अनुसार व्रत धारक पुरुष रहा है अन्य २४ मे स्त्री या पति सहित पत्नी द्वारा व्रत धारण कर फल प्राप्ति बताई गई है।

५–इनमे से ६–१० कथाए मुनिनिन्दा या व्रत निन्दा आदि करने वालो की है जिन्होने ऐसा कर कुगति पाई फिर सयोग से व्रत कर अपनी स्थिति सुधारी।

६–अधिकाश कथाओ मे व्रत का फल न केवल गरीबी कुगति, व्याधि आदि का निवारण ही बताया है अपितु देव पर्याय एव अन्त मे मुक्ति का उल्लेख किया गया है।

७–व्रत के अन्त मे उद्यापन हेतु नाना उपकरण देने व मूर्ति प्रतिष्ठापित करने की प्रेरणा दी गई है और जो उद्यापन न दे सके वह दुगुनी अवधि तक व्रत करे।

सभवत. अन्य व्रतो की भी इसी प्रकार की कथाए हो। इनका सक्षिप्त विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है—

यह तो निर्विवाद है कि इनमे से अधिकाश व्रतो का प्रारम्भ भट्टारको द्वारा किया गया था। उन्होने इनका प्रारम्भ क्यो किया इसका एक कारण समझ मे आता है। (सभव है कि कुछ भाई इस कारण से सहमत न हो।)

भट्टारको ने प्रारम्भ मे सस्कृति व साहित्य की सुरक्षा के लिए अथक प्रयत्न किए थे किंतु चूकि वे वस्त्र धारण कर भी अपने आपको साधु मानते थे एव साधु रूप मे ही पुजवाते थे इसलिए उन्होने प्राचीन परम्परा के शास्त्रो पर अधिकार कर लिया और साधारण श्रावक श्राविकाओ के लिए केवल पूजा, स्तोत्र, धन दौलत दाता व दुख निवारक मत्रो एव व्रतो का स्वरूप बताने वाले शास्त्रो की रचना की ताकि वे उनमे उलझे रहे। उन्होने व्रतो की कथाओ मे प्राय यह भी दिखाया कि मुनि निन्दा या आहार दान न देने से खोटी गतिया मिलती हैं, उससे बीमारी एव गरीबी हो जाती है, फिर अमुक व्रत के करने से न केवल बीमारी एव गरीबी दूर होती है अपितु मोक्ष तक मिलता है। साधारण ससारी जीवो को इनसे बढ कर क्या चाहिए। कथाओ मे प्राय. स्त्रिया ही प्रमुख रही हैं। इसका भी कारण रहा। मुनि निंदा का फल दुखमय दिखाकर वे अपनी निंदा को रोके रहे ताकि उनके दुखमय परिणाम से सब कोई डरें। दूसरा स्त्रिया सहज ही दुख मे भयभीत हो जाती हैं उनसे सेवा भक्ति भी जल्दी मिल

जाती है अत उनकी करुणामय भक्ति भावना को उत्तेजित करने के लिए कथाओ में मुख्य रूप से स्त्री पात्रो का चित्रण किया गया है।

कथाओ मे 'उद्यापन' हेतु सामग्री उपकरण आदि देने का विधान किया गया है। यह सामग्री मन्दिरो के लिए ही दी जाती है किन्तु पहले भट्टारक या उनके पाण्डे भी लेते रहे हो तो कोई आश्चर्य नही है। उन्होने व्रत लेने या छोडने के लिए गुरु साक्षी भी आवश्यक बताई थी जैसा कि व्रत तिथि निर्णय में आचार्य सिंहनन्दी ने लिखा है—

व्रतादान व्रतत्याग कार्यो गुरु समक्षत ।
नो चेतन्निष्फल ज्ञेय शिक्षादिकभवेत् ॥
यो स्वय व्रतमादत्ते स्वय चापि विमुन्चति ।
तद्व्रत निष्फल ज्ञेय साक्ष्याभावात् कुत फल ॥

गुरु के समक्ष से ही व्रतो का ग्रहण और व्रतो का त्याग करना चाहिए। गुरु की साक्षी के बिना ग्रहण किए और त्यागे व्रत निष्फल होते है अत इन व्रतो से धन धान्य, शिक्षा आदि फलो की प्राप्ति नही हो सकती। जो स्वय व्रतो को ग्रहण करता है और स्वय ही व्रतो को छोड देता है उसके व्रत निष्फल हो जाते हैं। गुरु को साक्षी न होने से व्रतो का क्या फल होगा ?

इस प्रकार के विधान के बावजूद भी लोग ऐसे तथाकथित गुरुओ के समक्ष व्रत ग्रहण–त्याग नही करते होगे इसलिए ऐसा करने वालो के लिए नरक जाने की घोषणा भी करदी गई—

क्रमसुल्लंध्य यो नारी नरो वा गच्छति स्वयम् ।
स एव नरक याति जिनाज्ञा गुरूलोपत ॥

जो स्त्री या पुरुष क्रम का उल्लघन कर स्वय व्रत करते हैं वे जिनाज्ञा एव गुरु का लोप करने के कारण नरक जाते है।

सवस्त्र भट्टारकजी ने नरक जाने का इसलिए विधान कर दिया है कि उद्यापन रूपी दक्षिणा प्राप्ति मे कोई कमी न रह जावे। जैसे वैष्णवो के तीर्थों मे क्रिया कर्म कराने के लिए ब्राह्मण अनिवार्य समझा जाता है वैसे ही जैन धर्म मे भी इन भट्टारको ने भट्टारक या अपने प्रतिनिधि स्वरूपी पाडे गुरु को अनिवार्य कर दिया। जैनियो के प्राचीन शास्त्रो मे तो इस प्रकार का विधि विधान मिलता नही। मुकुट सप्तमी व्रत जैसे कतिपय व्रतो की ऐसी विधिया बताई गई हैं जिनका किसी प्रकार समर्थन नही किया जा सकता।

धन सपदा, पुत्र मकान प्राप्ति या शत्रु मारण बीमारी दूर करने के उद्देश्य से ऐसे व्रतो को करने से इनकी व्रत सज्ञा ही समाप्त हो जाती है ऐसा करने से निदान शल्य बना रहता है। यद्यपि आज वस्त्रधारी भट्टारको की मान्यता प्राय. समाप्त हो रही है, आज भी कुछ लोग इन व्रतो या नए व्रतो यथा-चक्रवाल व्रत तथा मत्रो का प्रलोभन देकर श्रावक श्राविकाओ को आत्म कल्याण से विमुख रख कर ससारी वस्तुओ के प्रति आकर्षित करते रहते है। यह स्थिति ठीक नही है।

श्रावक व्रतो मे प्रोषधोपवास का महत्व है किंतु उसे आत्मकल्याण की साधना का ही अग मानकर करना आगमानुकूल होगा। उससे सासारिक सुख की प्राप्ति का साधन मानना शास्त्रनुकूल नही है। आज कल उपवास के दिन का कर्त्तव्य आत्मचिंतन मनन, शास्त्र स्वाध्याय आदि को प्राय भुला दिया जाता है। यह भी देखा जाता है कि इस अवसर पर अपने शरीर को सजाने के लिए फूलमालाओ जैसा कामोदीपक पदार्थों का भी उपयोग करने मे हिचकिचाहट नही रहती है।

उद्यापन के अतिरिक्त समाज के अन्य व्यक्तियो को बरतन आदि देने का रिवाज भी बडता जा रहा है। समाज की आर्थिक स्थिति देखते हुए सोच समझ कर कार्य करना चाहिए। उपवास समाप्ति पर दान करना चाहिए किन्तु उसका प्रदर्शन नही। उस दान की दिशा भी बदलनी होगी। जैन साहित्य प्रचार एव तीर्थो, मन्दिरो की सुरक्षा, जीर्णोद्धार की ओर दान की वृत्ति करनी चाहिए।

हमे उमा स्वामी द्वारा वर्णित व्रतो की साधना की ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए धन, पुत्र, सपदा की आशा से किए हुए व्रतादिक 'बालतप' की सज्ञा मे आते हैं। यही कारण है कि जब किसी व्रत विशेष के करने से अभिलाषित फल की प्राप्ति नही होती तो हम निराश होकर व्रत या अन्य धार्मिक कार्यों से भी आस्था खो बैठते हैं। व्रता-दिक का उपयोग लोभ कषाय की पूर्त्यर्थ करना किसी भी प्रकार विधेय नही है।

"तीन लोक और तीन काल मे धर्म ही परम शरण है।
याही तै परम सुख होय है। सुख के अर्थि सभी चेष्टा
करै हैं, अर सुख धर्म के ही निमित्त से होय है।
ऐसा जानकर धर्म का यत्न करहु।"

(पृष्ठ ४६ पद्मपुराण रवि सेनाचार्य)

ओ तरुण ! जाग ''' शीघ्र जाग !!

—बसन्तकुमार जैन शास्त्री (श्री महावीरजी)

तरुण ! जी हाँ एक तरुण । अपनी तरुणाई से उभरा हुआ जा रहा था वह मनचले की तरह । तभी उसके कदमों की ठोकर लगी एक नर कंकाल की खोपडी को। खोपडी झन्नाकर लुढकती हुई तरुण के आगे-आगे दौड चली । तरुण तो तरुण था ही वह तो चला जा रहा था अपनी धुन मे । तभी एक ठोकर और लगी उस नर मुण्ड पे ... और नर मुण्ड फिर आगे बढ गया । तरुण भी बढता रहा बेहोश सा ।

तभी तरुण की ठोकर लगी एक रास्ते के भारी भरकम पत्थर को और त तिलमिला कर पैर सहलाता चीख उठा और गिरता–गिरता बचा । वही वह नरमु पडा था । तरुण ने उसे देखा जैसे नरमुन्ड मुस्करा रहा हो ।

"क्यो मुस्करा रहा है रे दीठ ?" अपनी पीडा को पीते हुए तरुण ने उस नर मुन्ड से पूछा । नरमुन्ड अब भी मुस्करा रहा था—बोला

"मेरे प्यारे तरुण । तेरी ठोकरें मैंने दो बार सही हैं, और मैं इसलिए रहा क्योकि मैं भी कभी तरुण था । मेरे भी तरुणाई का जोश था । मैं भी त के जोश मे बेहोश था, मैं भी मनचला अनजानी राहो पर चला था और मैं भी सो कर जागा और जाग–जाग कर सोया था । लेकिन मेरी बेहोशी का सिलसिला तब टूटा जब मेरी कमर टूट चली थी, दाँत झड चले थे, आँतें ढीली पड चुकी थीं, आँखें अपने ही अन्दर धँस चुकी थीं । यानी मैं वृद्ध हो चुका था । और तब मैं जागा किस काम का ? होश तो था लेकिन जोश तो था ही नही । मैने मेरा तरुणाई का जीवन जागते-जागते ही खो दिया और आलस्य, प्रमाद, मदहोशी के आलिंगनो जकडा हुआ रह कर जाग ही नही सका ।

मेरे प्रिय तरुण । इसलिए तुम्हे सचेत कर रहा हू कि तेरा जोश ठंडा न हो उसके पहले–पहले जाग... शीघ्र जाग और लग जा अपने आत्मसाधना के पथ पर क्या रखा है जग के आडम्बरो मे ? क्या रखा है इन गदराये हुए नवोदित नौरगो मे क्या रखा है इन विषय वासना से भरे मादक जीवन मे और क्या रखा है इन तिको प्रसाधनो मे ?

करना है शीघ्र कर, आज ही कर अभी ही कर ! तेरे इस जोश को मोड दे कटीली राहो की तरफ जो विषय वासना के झाड–झँकार को रोद कर पार हो जायेगा और आत्मधर्म को पालेगा।

हाँ ! मेरे तरुण ! मुझे तृष्णा आशा और लालसा ने खूब चूसा है, खूब रुलाया है, खूब भरमाया है पर देख ! तू इनके चक्कर मे मत आना। तू सुन रहा है ना मेरी सब बाते ?"

"आँ ... हाँ .. ....हाँ ! हाँ ! सुन रहा हू !" कहकर तरुण ने अपना पसीना पौछा। उसे यह भी ध्यान न रहा कि उसके पैर का अ गूठा पत्थर की ठोकर से फट गया है क्योंकि उसका उपयोग तो नरमुन्ड की बातो की ओर लग रहा था।

उपयोग ही तो है। जिधर लग जाये उधर ही छा जाये। तरुण ने सब कुछ सुना और जैसे सोये से जाग उठा। वह चल पडा एक-एक कदम फूँक-फूँककर। आत्म-साधना कठिन तो है लेकिन जब उस ओर चल पडे तो सरल भी है। तरुण चल पडा तो उसके साथ अनेक तरुण भी चल पडे।

तो उस तरुण की गाथा आज हम आप तरुणो को इसलिए सुना रहे है कि आप भी जागे—शीघ्र जागे।

—oo—

जे अधर्म चर्चा करके वृथा वकवाद करै, है ते दडो से आकाश को कूटै हैं, सो कैसे कूटा जाये ? जो कदाचित् मिथ्या दृष्टियो के कायक्लेशादितप होय, अर शब्द ज्ञान भी होय तो भी मुक्ति का कारण नाही। सम्यग्दर्शन बिना जो जानपना है सो ज्ञान नाही। अर जो आचरण है सो कुचरित्र है।

(रविशेणाचार्य पद्मपुराण पृष्ठ ८२)

बनना बिगड़ना इन युवा संस्थाओं का

—मुकेश वाकलीवाल (कोटा)

राष्ट्रीय नवयुवक मण्डल, नवयुवक चेतना मण्डल, सन्मति युवा मण्डल, वर्द्धमान नवयुवक मण्डल, ज्योति युवा मण्डल न जाने ऐसी कितनी युवा सस्थाऐ हैं जो गठित हुईं और जल्द ही विलीन भी हो गई। राष्ट्रीय नवयुवक मण्डल जो आज स साढे पाच वर्ष पूर्व देश के किसी कोने में उदित हुई थी, इस सस्था के अध्यक्ष एव मत्री तथा अन्य पदाधिकारियो के चुनाव हुए। यह सस्था तीन महीने तक तो भली प्रकार चली परन्तु उसी वक्त अध्यक्ष एव मन्त्री ने स्तीफा दे दिया। उसी के साथ ही यह सस्था हमेशा-हमेशा के लिए विलीन हो गई। आज न तो उस सस्था का कही नाम ही सुनने को मिलता है और न ही उसके कार्य कलाप है।

ऐसी अनेक सस्थाए हैं जो युवको का उत्साह एव उत्सुकता की वजह से गठित होती है परन्तु युवको का उत्साह ठण्डा हो जाने पर वह सस्था भी कुछ अपने कार्यक्रम या गतिविधिया प्रस्तुत नही कर सकती, फलस्वरूप सामाजिक दायरे मे वह सस्था फलीभूत नही हो सकती। इसका परिणाम होता है कि कुछ समय बाद वह सस्था विलीन हो जाती है। इन सस्थाओ का इस प्रकार बनने और बिगडने के मूल मे क्या कारण है इसका पता लगाने के लिए कई प्रकार के मनोवैज्ञानिक तथ्य सामने रखे गये। परन्तु इन तथ्यो से यही प्रकाश मे आया कि युवको को अच्छा निर्देशन न मिलने की वजह से ही युवको का उत्साह ठण्डा हो जाता है। इसके लिए जरूरी है कि युवा पीढी को स्वस्थ्य व मनोरजक विचारधारा का मार्ग दर्शन मिले। इससे उस सस्था के युवक या युवतिया अपने कुछ सामाजिक, मानसिक, धार्मिक, आर्थिक या राजनैतिक कार्यक्रम समाज के सम्मुख रख सकेगे। समाज एव सामाजिक जनता ऐसी बुद्धिजीवी सस्था को फलीभूत करके गर्व अनुभव करेगी एव समाज मे भी इसका अच्छा प्रभाव पडेगा। परन्तु ऐसा हो कब सकता है ? क्या कभी राई से पर्वत बनता देखा गया है ?

मेरे अनुभव से मैं यह बता देना चाहता हू कि इन युवा सस्थाओ के बनने और बिगडने मे महत्वपूर्ण भूमिका इन युवको की रहती है। आज हम देश के जिस किसी

कोने में दृष्टिपात करें तो कोई न कोई सस्था उदित हुई अवश्य मिलती है। कारण कि युवा ऐसी सस्था को गठित तो कर लेते है परन्तु न तो उन्हे सस्था को सचालित करने का तौर तरीका मालूम होता है और न ही उसके कार्यकलापो को उचित रूपरेखा देने का तरीका। ऐसे वक्त मे जब कि कार्य को सचालित करने का तरीका ही मालूम न हो, वह सस्था स्वत. ही कमजोर होती जाएगी। इस प्रकार सस्था के कमजोर हो जाने से उसके कुछेक कर्मठ या उत्साही नवयुवको का उत्साह ही ठण्डा हो जाता है। वह अकेला या दो तीन व्यक्ति पूरी सस्था का ठीक प्रकार से सचालन नही कर सकते। क्या अकेला चना भी कभी भाड फोड सकता है? नही, कदापि नही!

आज सवाल इस बात का है कि यह युवा सस्थाए समाज को क्या दे सकती हैं? क्या समाज के बिखराव को, मनमुटाव को, पापस्परिक विद्वेष को, धार्मिक अन्तरग या बहिरग को या विद्वेष को तथा साम्प्रदायिक दगो को निपटाने मे सहयोग दे सकती हैं? इस पर भी कई विद्वानो एव बुद्धिजीवियो ने विचार किया एव पाया कि यह युवा सस्थाएँ समाज को अच्छा वातावरण या तो दे ही नही सकती, तथापि अगर ये सस्थाएँ समाज मे सहृदयता एव सहिष्णुता का वातावरण देती हैं तो कुछ समय पश्चात् वापस मनमुटाव की भावना भी पैदा कर देती हैं इसका कारण है सस्था मे कुछ दूसरे व्यक्तियो का अनाधिकृत रूप से घुस जाना। कोई भी सस्था तब तक पूर्णत सफल नही हो सकती जब तक कि उसके कार्य करने वाले व्यक्ति या उसके सदस्य उस सस्था के प्रति पूर्ण विश्वस्त एव निष्ठावान न रहे। जब तक सदस्यो के बीच एकता, पारस्परिक सद्भाव न रहेगा, सस्था का वातावरण तीखा रहेगा। ऐसे समय मे वह संस्था भी स्वयमेव कमजोरी अनुभव करेगी। इस प्रकार सस्थाओ के बिगडने मे एक कारण यह भी है। मनोवैज्ञानिक ढग से कभी यदि इन युवा सस्थाओ का गहन अध्ययन किया जाए तो पता चलता है कि सस्था मे कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं जो कि साम्प्रदायिकता को बढाने मे गर्व और गौरव का अनुभव करते है। ऐसे व्यक्ति को सस्था को चाहिए कि वह अपनी सस्था की सदस्यता से वचित कर दे। प्रेम एव विश्वास इन दो शब्दो के बल पर ही किसी सस्था का गठन हो सकता है। अन्यथा नही। अगर सदस्यो के मध्य ये दो शब्द ही कारगार रूप से हृदयगम न होंगे तो..

आज यदि हमें आवश्यकता है तो इस बात की कि हम किसी प्रकार की ऐसी सस्था का निर्माण करे जो कि समाज मे फैले गन्दे वातावरण को दूर कर सके। न तो हमे ऐसी सस्था चाहिए जो कि किसी वर्ग या व्यक्ति विशेष का अपमान करने मे गौरव का अनुभव करती हो एव जो युवा आवेश से उदित होती हो, जिनमे सदस्यो के सोचने समझने की एव तर्क करने की शक्ति कम होती हो परन्तु जोश एव [illegible]

अधिक होती हो और न ही हमे ऐसी सस्था चाहिए , जो किसी आडम्बर या फुसलाव द्वारा गठित होती हो । आवश्यकता है एक निष्पक्ष, दूरदर्शी एव विचारवान सस्था की ।

प्रसन्नता है कि अ० भा० जैन युवा फैडरेशन ने युवा वर्ग में तत्त्व की रुचि जागृत करने का बीडा उठाकर इस कमी को पूरा किया है । इस नवगठित सस्था ने अल्प समय में ही अपने कार्यकलापो द्वारा समाज में एक आदर्श प्रस्तुत किया है। इसकी अपनी कुछ विशेषताये हैं जिनके कारण आज युवा वर्ग इसे अपना समर्थन दे रहा है। आइये हम भी इस सगठन को मजबूत बनाने के लिये कदम उठायें ।

❀—❀

आत्मा का अनादर

जैसे कोई राजा घर आया हो और उसका सम्मान न करके छोटे बालक के साथ खेलने लगे तो उसका अपमान कहा जाएगा, उसी प्रकार बेहद ज्ञान और आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा अंदर विराजमान है, उसकी ओर न देखकर रागादि विकल्पो की ओर ही देखता है तो वह भगवान् आत्मा का महान अनादर हे और यही मिथ्यातत्व है जिसका फल चतुर्गति भ्रमण है।

"न सम्यक्त्वसम किंचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रयोऽश्रेयश्चमिथ्यात्व सम नान्यत्तनुभृतम् ॥३४॥"

भावार्थ—तीन लोक और तीन काल मे सम्यक्त्व के समान कोई भी पदार्थ प्राणियो को हितकारी नही है तथा मिथ्यात्व के समान कोई भी पदार्थ अकल्याणकारी नही है क्योकि सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने पर गृहस्थ भी मुनि से उत्कृष्ट हो जाता है और मिथ्यात्व होने पर महाव्रतधारी मुनि भी गृहस्थ से हीन माना जाता है।

उपासना किसकी !
क्यों और कैसे ?

—प्रेमचन्द जैन शास्त्री

जैन धर्म के अनुसार सब जीव द्रव्यदृष्टि से अथवा शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से समान हैं। कोई भेद नही, सबका वास्तविक गुण स्वभाव एक सा है। प्रत्येक जीव स्वभाव से ही अनन्त-दर्शन-ज्ञान-चारित्र-सुख-वीर्यादि अनन्त शक्तियो का निकेतन है। *परन्तु जीवो की वर्तमान पर्याय मे कर्मफल लगा हुआ है। इसके कारण* जीव का असली स्वभाव आच्छादित है। उनकी वे शक्तियाँ अविकसित है। तथा वे परतन्त्र हुये नाना प्रकार की अविकसित पर्याय धारण करते हुये नजर आते है।

अनेक अवस्थाओ को लिये हुये जितना प्राणिवर्ग है, वह सब उसी कर्ममल का परिणाम है। तथा उसी के भेद से यह सारा जगत् भेदरूप है। जीव की इस अवस्था को ही "विभाव-प्रपरणति" कहते हैं।

जब तक किसी जीव के विभाव परणति बनी रहती हैं तब तक वह ससारी कहा जाता है। जब विभाव परणति व्यय को प्राप्त होती है। तब उसका निजस्वरूप पूर्णतया विकसित हो जाता है। तब वह जीवात्मा ससार परिभ्रमण से छूटकर मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। वह मुक्त, सिद्ध एव परमात्मा कहलाता है।

उसकी दो अवस्थाये होती हैं—

(१) जीवन मुक्त (२) विदेह मुक्त

इस प्रकार पर्याय दृष्टि से ससारी एव मुक्त दो भेद कहे जाते हैं। इसी को यदि हम दूसरे रूप मे विभाजित करना चाहें तो चार भागो में विभाजित कर सकते हैं। .... (१) अविकसित (२) अल्पविकसित (३) बहुविकसित (४) पूर्ण-विकसित।

इसलिये जो पूर्ण विकसित हैं वे स्वरूप से ही पूज्य एव आराध्य हैं। जो सम्यक् रूप मे अल्पविकसित हैं वह भी वदन योग्य हैं, क्योकि आत्म गुणो का विकास सभी को इष्ट है।

ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि ससारी जीवो का हित इसी में है कि वे विभाव परणति को छोडकर स्वभाव मे स्थिर होने अर्थात् सिद्धि को प्राप्त करने का यत्न करें।

इसलिये आत्मगुणो का परिचय होना चाहिये। गुणो में वर्द्धमान अनुराग होना चाहिये। तथा विकास मार्ग की दृढ श्रद्धा होना चाहिये। क्यो कि इसकी श्रद्धा विना किसी भी गुण की प्राप्ति नही होती तथा यथेष्ट प्रवृत्ति नही होती।

इसलिये अपना हित एव विकास चाहने वाले, पूज्य महापुरुषो एव सिद्धात्माओ की शरण मे जाते हैं। तथा उनके द्वारा वताये कदमो पर चलकर हम विकास को प्राप्त करे ऐसी भावना रखते हैं।

इस सव अनुष्ठान मे उनकी कुछ भी गरज नही होती और न ही इस पर उनकी प्रसन्नता ही निर्भर रहती है। यह सव साधना अपने ही उत्थान के लिये की जाती है।

सिद्धि को प्राप्त हुये शुद्धात्माओ की भक्ति द्वारा आत्मोत्कर्ष साधने का नाम "भक्ति मार्ग" है। और भक्ति उनके गुणो मे अनुराग अथवा तदनुकूल वर्तन को कहते हैं। जो कि शुद्धात्मवृत्ति की उत्पत्ति एव रक्षा के साधन हैं।

पूजा के अंग

(१) अभिषेक (२) आह्वान (३) स्थापना (४) सन्निधिकरण (५) अष्ट द्रव्यपूजन (६) जयमाला (७) जप (८) शातिपाठ (९) विसर्जन।

इसी से समन्तभद्र स्वामी जैसे आचार्यो ने परमात्मा की स्तुति रूप मे इस भक्ति को कुशल परिणाम का हेतु बतलाकर उसके द्वारा [१]श्रयोमार्ग को सुलभ एव स्वाधीन वताया है।

प्राचीन काल मे अर्हत्प्रतिमादि के सामने स्थित होकर वडे ही भक्ति भाव के साथ विचार पूर्वक जब पढते थे, तो वे उपास्य के प्रति हाथ जोडने, शिरोनति करने, स्तुति पढने आदि के द्वारा, वचन एव काय को एकाग्र करते थे। यही प्राचीन "द्रव्य-पूजा" थी और मन को नाना विकल्प जनित व्यग्रता को दूर करके उसे ध्यान द्वारा तथा गुणचिन्तानादि द्वारा उपास्य मे लीन करते थे। वही 'भावपूजा" थी।

इसी प्रकार अमितगति आचार्य ने भी कहा है—

१—सम्यकदर्शन-ज्ञान-चारित्र-रूप मोक्षमार्ग।

वचो-निग्रह सकोचो, द्रव्य पूजा-निगद्यते।
तत्र मानस सकोचो, भाव पूजा पुरातनै ॥[2]

अत जैन धर्म मे लक्ष्य शुद्धि एव भाव शुद्धि पर विशेष बल दिया जाता है। इसका सम्बन्ध आन्तरिक विवेक से है। बिना विवेक एव भावशुद्धि से कोई भी क्रिया, यथेष्ठ फलदायक नही होती।

इसी प्रकार श्री कुमुदचन्द्र आचार्य ने कहा है।[3]

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षतोपि,
नून न चेतसि मया विधृतोसि भक्त्या।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव! दु खपात्र,
"यस्मात क्रिया प्रतिफलन्तिन भावशून्या" ॥

हे जगबन्धु! तुम्हारा उपदेश सुनकर भी, तुम्हारी पूजा करके भी और तुम्हे बारम्बार देखकर भी अवश्य ही भक्तिपूर्वक तुम्हे अपने हृदय मे स्थापित नही किया। इसी से मैं दु खो का पात्र बना। क्योकि "भावशून्य क्रिया कभी भी फलदायी नही होती"। अत द्रव्य पूजा के साथ साथ शारीरिक एव मानसिक पूजा का होना आवश्यक है। ... जल चन्दनादि अष्ट द्रव्य तो आलम्बन मात्र हैं यह कथन तो हुआ, भाव शुद्धि का?

हमे भाव शुद्धि के साथ-साथ लक्ष्य शुद्धि पर ध्यान देना चाहिए। हमारा लक्ष्य लौकिक लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा, यश, भय, एव रूढि से ग्रस्त तो नही है। यदि हमारा उद्देश्य यह है तो प्रशस्त अध्यवसाय भी नही हो सकता तथा आत्मीय विकास की तो बात दूर।

हमारे द्वारा की गई पूजा का उद्देश्य अपने विकारो एव कारणो को दूर करके चरम लक्ष्य मोक्ष एव उसी के साधन ... ..., (१) आत्मा मे लीन होना, (२) पूर्ण स्वतन्त्र होना, (३) रत्नत्रय की प्राप्ति, (४) मोह को नाश करना। यह होना चाहिये।[4]

हमारे अन्दर हर समय यह भावना जागृत रहनी चाहिये कि भगवान कुछ देते नही उनके पास देने योग्य है भी नही, लेकिन भगवान के स्वरूप का चिन्तन करने से सहज ही शाति की प्राप्ति होती है।

२—उपासकाचार ३—कल्याण मन्दिर स्त्रोत्र श्लोक न० ३८
४—श्री प० दौलतराम जी कृत देव स्तुति के १४—१५ छन्द से

हे नाथ ! आप हमको भवसमुद्र से तारने वाले कैसे हो सकते हो ? आप तो निमित्त मात्र हो । क्योंकि प्राणी आपके गुणों का चिन्तवन करके आप ही के समान अपने स्वरूप को जानकर, पहिचानकर, मग्न होकर भवसमुद्र से पार हो जाते हैं। जैसे मछली जल मे तैरती है, वह अपने अन्दर विद्यमान जो उपादान शक्ति है उससे तैरती है । जल तो मात्र निमित्त कहा जाता है ।

इसी बात को श्री कुमुदचन्द्राचार्य ने कहा है—

त्व तारको जिन कथ भविनात एव,
त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्तरन्त्त ।
यद्वाहतिस्तरति यज्जल मेष नून,
अन्तर्गतस्य मरूत स किलानुभाव ॥[५]

हम ध्यान तो रखे । उनसे कुछ मागना कहाँ तक ठीक हो सकता है । जो सब कुछ त्याग चुके, उनसे कुछ भी मागना ठीक नहीं । उन जैसा बनने के भाव को लेकर उपासना करनी चाहिये ।

उनको किसी के द्वारा की गई निन्दा एव प्रशसा से कोई प्रयोजन नहीं। उनको अर्घ चढाने वाले एव तलवार के द्वारा प्रहार करने वाले दोनो मे समभाव है।[६] क्योंकि यह समभाव उनकी अन्दर की विभूति है। उनको शत्रु–मित्र से क्या प्रयोजन ? क्योंकि वे वीतरागी एव वीतद्वेषी है ।

ऐसा ही, श्री समन्तभद्राचार्य जी ने कहा है—

न पूजयार्थ स्त्वयि वीतरागे,
न निन्दया नाथ विवान्त वैरे ।
तथापि तव पुण्यगुणस्मृतिर्न,
पुनातु चिन्त दुरिताञ्जनेभ्य. ॥[७]

हे नाथ ! तुम वीतराग हो । अत तुम्हे अपनी पूजा से क्या प्रयोजन, और तुम वीतद्वेषी हो, अत निन्दा से क्या प्रयोजन । फिर भी तुम्हारे पुण्य गुणो की स्मृति हमारे चित्त को पाप कालिमा से बचाती है ।

सासारिक शिष्टाचार मे आसक्त कुछ लोग, जब वीतरागी नग्न दिगम्बर प्रतिमा को देखते हैं तो मन मे विचार करते हैं, कि यह मूर्ति नग्न है ।

५—कल्याण मन्दिर स्त्रोत्र श्लोक न० १०
६—छहढाला वी० ढाल छन्द न० ६
७—स्वयम्भू स्तोत्र श्लोक न० ५८

किन्तु मैं पूछता हू। क्या नग्नता वस्तुत अभद्र है? क्या वास्तव मे श्री विहीन है?

ऐसा होता, तो प्रकृति को लज्जा आना ही चाहिये थी। पशु-पक्षी नग्न रहते हैं। प्रकृति के साथ जिन्होने कभी एकता नही खोई, ऐसे बालक नग्न घूमते है उनको इसकी शरम नही आती। उनकी निर्व्याजता के कारण लज्जा जैसा कुछ प्रतीत नही होता। मनुष्य ने विकृत ध्यान करके अपने मन के विकारो को इतना अधिक वढाया एव उल्टे रास्ते की ओर प्रवृत्त किया, फलस्वरूप स्वभावसुन्दर, प्रकृति सिद्ध नग्नता उसे सहन नही होती। "दोष नग्नता का नही हमारे कृत्रिम जीवन का है"।

वीतरागी परमात्मा के दर्शन से विकारी होने के वदले निर्विकारी होने जैसा अनुभव होता है।

भगवान को सही रूप मे समझे बिना एव पहिचाने बिना सही अर्थो मे उनकी उपासना की ही नही जा सकती। परमात्मा वीतरागी एव पूर्णज्ञानी होते है। अत. उनका उपासक भी वीतरागता एव पूर्णज्ञान का उपासक ही होना चाहिये। विषय कषाय का अभिलाषी वीतराग का उपासक हो ही नही सकता। विषय भोगो की अभिलाषा से भक्ति करने पर, तीव्र कषाय होने से पाप बध ही होता है। पुण्य का बध भी नही होता।[८]

फिर भी श्री पद्मप्रभमलधारिदेव नियमसार मे कहते है, 'भवभव के भेदने वाले यह भगवान जिनेन्द्रदेव के प्रति क्या तुझे भक्ति नही हैं? यदि नही है तो तू भवसमुद्र के बीच मे मगर के मुँह मे पडा है।"

अत' हम देव शास्त्र गुरु का गुणानुवाद करके शाति तथा वीरागता के दर्पण मे अपनी विकृत आत्मा की अशुद्धि का प्रतिविम्ब देखकर शुद्धि के बल से उसको परिमार्जन करने का प्रयत्न करें। क्योकि जैनदर्शन मे परिणामो की मुख्यता बताई गई है।

"यादृशी भावना यस्य-दृष्टि भवति तादृशी"।

८—मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ० ८

जैन दर्शन का तात्विक पक्ष : वस्तु स्वातन्त्र्य

—डा० हुकमचन्द भारिल्ल, (जयपुर

जैन दर्शन में वस्तु के जिस अनेकात्मक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है उसमें वस्तु स्वातन्त्र्य को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । उसमे मात्र जन-ज की स्वतन्त्रता की ही चर्चा नही, अपितु कण-कण की पूर्ण स्वतन्त्रता का सतर्क व सशक्त प्रतिपादन हुआ है । उसमे स्वतत्र 'होना है' की चर्चा नही 'स्वतन्त्र है' की घोषण की गई है । 'होना है' मे स्वतन्त्रता की नही परतन्त्रता की स्वीकृ है । 'होना है' अर्थात् है नही । जो है उसे क्या होना ? स्वभाव से प्रत्येक वस्तु स्वत ही है । जहा होना है की चर्चा है, वह पर्याय की चर्चा है । जिसे स्वभाव की स्वतन्त्रता समझ मे आती है, पकड मे आती है, अनुभव मे आती है उसकी पर्या मे स्वतन्त्रता प्रकट होती है । अर्थात् उसकी स्वतन्त्र पर्याय-प्रकट होती है । वस्तुत पर्याय भी परतन्त्र नही है । स्वभाव की स्वतन्त्रता की अजानकारी ही पर्याय परतन्त्रता है । पर्याय के विकार का कारण "मैं परतन्त्र हूँ" ऐसी मान्यता है न कि पर परपदार्थ । स्वभाव-पर्याय को तो परतन्त्र कोई नही मानता पर विकारी-पर्याय क परतन्त्र कहा जाता है । उसकी परतन्त्रता का अर्थ मात्र इतना है कि वह परलक्ष्य से उत्पन्न हुई है । पर के कारण किसी द्रव्य की कोई पर्याय उत्पन्न नह होती ।

विश्व का प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतन्त्र एव परिणमनशील है, वह अपने परि णमनशील का कर्ता-धर्ता स्वय है, उसके परिणमन मे पर का हस्तक्षेप रचमात्र भी नही है । यहाँ तक कि परमपिता परमेश्वर [भगवान] भी उसकी सत्ता एव परि णमन का कर्ता धर्ता नही है दूसरो के परिणमन अर्थात् कार्य मे हस्तक्षेप की भाव ही मिथ्या, निष्फल और दु ख का कारण है । क्योकि सब जीवो के जीवन ... सुख-दुख स्वयकृत कर्म के फल हैं । एक-दूसरे को एक दूसरे के दु ख-सुख और ... मरण का कर्ता मानना अज्ञान हैं ।

सो ही कहा है —

यदि एक प्राणी को दूसरे के दुःख-सुख और जीवन-मरण का कर्ता माना जाए तो फिर स्वयकृत शुभाशुभ कर्म निष्फल साबित होगे। क्योकि प्रश्न यह है कि हम बुरे कर्म करे और कोई दूसरा व्यक्ति, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यो न हो, क्या वह हमे सुखी कर सकता है ? इसी प्रकार हम अच्छे कार्य करे और कोई व्यक्ति, चाहे वह ईश्वर ही क्यो न हो, क्या हमारा बुरा कर सकता है ? यदि हा, तो फिर अच्छे कार्य करना और बुरे कार्यो से डरना व्यर्थ है क्योकि उनके फल को भोगना तो आवश्यक है नही ? और यदि यह सही है कि हमे अपने अच्छे बुरे कर्मो का फल भोगना ही पडेगा तो फिर पर के हस्तक्षेप की कल्पना निरर्थक है। उसी बात को अमितगति आचार्य ने इस प्रकार व्यक्त किया है :—

स्वयं कृत कर्मयदात्मना पुरा, फल तदीयं लभते-शुभाशुभ।
परेण दत्त यदि लभ्यते स्फुटं, स्वयकृत कर्म निर्थकम् तदा।।
निर्जाजितं कर्म विहाय देहिनो, न कोपि कस्यापि ददाति किंचन।
विचारयन्नेवमनन्य मानस, परो ददातीति विमुच्य शेमुषी।।[2]।।

आचार्य अमृतचन्द्र तो यहां तक कहते है कि पर द्रव्य और आत्मतत्व मे कोई भी सम्बन्ध नही है तो फिर कर्ता-कर्म सम्बन्ध कैसे हो सकता है।

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः पर द्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः।।[3]।।

विभिन्न द्रव्यो के बीच सर्व प्रकार के सम्बन्ध का निषेध ही वस्तुत पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा है। पर के साथ किसी भी प्रकार के सम्बन्ध की स्वीकृति परतन्त्रता को ही बताता है।

अन्य सम्बन्धो की अपेक्षा कर्ता-कर्म सम्बन्ध सर्वाधिक परतन्त्रता का सूचक है

---

१ आचार्य अमृतचद्र - समयसार कलश १६८

२ भावना द्वात्रिशतिका [सामायिक पाठ] छंद ३०-३१

३ आचार्य अमृतचद्र - समयसार कलश २००

यही कारण है कि जैनदर्शन मे कर्त्तावाद का स्पष्ट निषेध किया है। कर्त्तावाद के निषेध का तात्पर्य मात्र इतना नही हे कि कोई शक्तिमान ईश्वर जगत का कर्त्ता हर्त्ता नही है, अपितु यह भी है कि कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता नही है। किसी एक महान् शक्ति को समस्त जगत का कर्त्ता-हर्त्ता मानना एक कर्त्तावाद है तो परस्पर एक द्रव्य को दूसरे का कर्त्ता-हर्त्ता मानना अनेक कर्त्तावाद।

जब-जब कर्त्तावाद या अकर्त्तावाद की चर्चा चलती है, तब-तब प्राय यही समझा जाता है कि जो ईश्वर को जगत का कर्त्ता माने वह कर्त्तावादी है और जो ईश्वर को जगत का कर्त्ता न माने वह अकर्त्तावादी। चू कि जैनदर्शन ईश्वर को जगत् का कर्त्ता नही मानता, अत वह अकर्त्तावादी दर्शन है।

जैनदर्शन का अकर्त्तावाद मात्र ईश्वरवाद के निषेध तक सीमित नही है। किन्तु समस्त पर कर्त्तृत्व के निषेध एव स्वकर्त्तृत्व के समर्थन रूप है। अकर्त्तावाद का अर्थ ईश्वर कर्त्तृत्व का निषेध मात्र तो है ही नही, पर मात्र कर्त्तृत्व के निषेध तक भी सीमित न हो, स्वय कर्त्तृत्व पर आधारित है। अकर्त्तावाद यानि स्वय कर्त्तावाद। प्रत्येक द्रव्य अपनी परिणति का स्वय कर्त्ता है। उसके परिणमन मे पर का रचमात्र भी हस्तक्षेप नही है। स्वय कर्त्तृत्व होने पर भी उसका भार भी जैनदर्शन को स्वीकार नही, क्योकि वह सब सहज स्वाभाविक परिणमन है। यही कारण है कि सर्वश्रेष्ठ दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रथ समयसार के कर्त्ता-कर्म अधिकार मे ईश्वरवाद के निषेध की चर्चा तक नही की और सम्पूर्ण बल कर्त्तृत्व के निषेध एव ज्ञानी को विकार के भी कर्त्तृत्व का अभाव सिद्ध करने पर दिया। जो समस्त कर्त्तृत्व एव कर्मत्व के भार से मुक्त हो उसे ही ज्ञानी कहा है।

कुन्दकुन्द की समस्या अपने शिष्यो को ईश्वरवाद से उभारने की नही वरन् मान्यता मे प्रत्येक व्यक्ति स्वय एक छोटा-मोटा ईश्वर बना हुआ है, और माने बैठा है कि "मै अपने कुटुम्ब, परिवार देश व समाज को पालता हूँ, उन्हे सुखी करता हूँ और शत्रुआदिक को मारता हूँ व दुखी करता हूँ अथवा मैं भी दूसरे के द्वारा सुखी-दुखी किया जाता हूँ या मारा बचाया जाता हूँ।" इस मिथ्या मान्यता से बचने की थी। अत उन्होने कर्तावाद सम्बन्धी उक्त मान्यता का कठोरता से निषेध किया है उन्ही के शब्दो मे —

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।। २४७।।
जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।। २५०।।

जो अप्पणा दु मण्णदि दक्खिद सुहिदे करेमि सत्ते ति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ।। २५३ ।।

दुक्खिद सुहिदे जीवे करेमि बधेमि तह विमोचेमि ।
जा एसा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ।। २६६ ।।[1]

जो यह मानता है कि मै परजीवो को मारता हूँ और परजीव मुझे मारते हैं—
ह मूढ है, अज्ञानी है, और इससे विपरीत वाला ज्ञानी है ।

जो जीव यह मानता है कि मै परजीवो को जिलाता [रक्षा करता] हूँ और
रजीव मुझे जिलाते [रक्षा करते] है वह मूढ है, अज्ञानी है, और इससे विपरीत
ानने वाला ज्ञानी है।

जो यह मानता है कि मै परजीवो को सुखी–दु खी करता हू और परजीव
ुझे सुखी–दु खी करते हैं, वह मूढ है, अज्ञानी है और इससे विपरीत मानने वाला
ज्ञानी है।

मै जीवो को सुखी–दु खी करता हू वधाता हू, तथा छुडाता हू ऐसी जो यह
तेरी मूढ मति[मोहित बुद्धि] है वह निरर्थक होने से वास्तव मे मिथ्या है।

आज कतिपय अपने को जैनदर्शन का विशेषज्ञ मानने वाले भी कर्तृत्व के भार
से मुक्त नही है । उनका अकर्तृत्ववाद "मात्र ईश्वर जगत का कर्त्ता नही" के निषेधा-
त्मक मार्ग तक सीमित है वह भी जैन है और जैनदर्शन ईश्वर को जगत का कर्त्ता
नही मानता है अत वे भी नही मानते ।

ईश्वर को कर्त्ता नहीं मानने पर भी स्वय–कर्तृत्व उनकी समझ मे नही
आता । अत जड कर्म को कर्त्ता कहते देखे जाते है । जड कर्म के सद्भाव को निज
के विकार का कर्त्ता और उसके अभाव को स्वभाव का कर्त्ता मानने वालो से तो
ईश्वरवादी ही अच्छे थे क्योकि अपन अच्छे बुरे कर्तृत्व की वागडोर एक सर्व–
शक्ति– सम्पन्न चेतन ईश्वर को तो सौपते हैं, इन्होने तो जडकर्म के हाथ अपने को
बेचा है । एक प्रकार से यह लोग भी ईश्वरवादी ही हैं क्योकि इन्होने चेतनेश्वर को
स्वीकार न कर, जडेश्वर को स्वीकार किया है ।

पर के साथ आत्मा का कारकता के सम्बन्ध का निषेध प्रवचनसार की
"तत्व प्रदीपिका" टीका मे इस प्रकार किया है ।

---

१ आचार्य कुन्दकुन्द—समयसार, बंध अधिकार

'अतो न निश्चयतः परेणसहात्मनः कारकत्व सम्बन्धोऽस्ति'।[1]

जीव कर्म के और कर्म जीव का कर्त्ता नही है। इस बात को पचास्तिकाय मे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है —

कुव्वं सगं सहाव अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स ।
ण हि पोग्गलकम्माण इदि जिणवयण मुणेयव्व ।। ६१ ।।
कम्म पि सगं कुव्वदि सेण सहावेण सम्ममपाण ।
जीवो वि य तारिसओ कम्मसहावेण भावेण ।। ६२ ।।
कम्मं कम्म कुव्वदि जदि सो अप्पा करेदि अप्पाण ।
किध तस्स फलं भुञ्जदि अप्पा कम च देदि फलं ।। ६३ ।।

अपने स्वभाव को करता हुआ आत्मा अपने भाव का कर्त्ता है, पुद्गल कर्मो का नही। ऐसा जिन वचन को जानना चाहिए।

कर्म भी अपने स्वभाव से अपने को करते हैं और उसी प्रकार जीव भी कर्म स्वभाव भाव से अपने को करता है।

यदि कर्म, कर्म को और आत्मा, आत्मा को करे तो फिर कर्म आत्मा को फल क्यो देगा और आत्मा उसका फल क्यो भोगेगा? अर्थात् नही भोगेगा।

जहा कर्त्तावादी दार्शनिको के सामने जगत ईश्वरकृत होने से सादी स्वीकार किया गया है वहा अकर्त्तावादी या स्वय कर्त्तावादी जैन दर्शन के अनुसार यह विश्व अनादि अनन्त है, उसे न तो किसी ने बनाया है और न ही कोई उसका विनाश कर सकता, यह स्वय सिद्ध है। विश्व का कभी भी सर्वथा नाश नही होता, मात्र परिवर्तन होता है, और वह परिवर्तन भी कभी-कभी नही, निरन्तर हुआ करता है।

यह समस्त जगत परिवर्तनशील होकर भी नित्य है और नित्य होकर भी परिवर्तनशील। यह नित्यानित्यात्मक हे। इसकी नित्यता स्वत सिद्ध हे और परिवर्तन स्वभावगत धर्म।

नित्यता के समान अनित्यता भी वस्तु का स्वरूप हे। सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्य से युक्त होता है।[2] उत्पाद और व्यय परिवर्तनशीलता का नाम है और ध्रौव्य

---

१ आचार्य कुन्दकुन्द—प्रवचनसार, पृष्ठ —२३
२. आचार्य उमास्वामी—तत्त्वार्थ सूत्र अध्याय—५, सूत्र—३०

नित्यता का [1] प्रत्येक पदार्थ उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य से युक्त है अत द्रव्य है। द्रव्य गुण और पर्यायवान होता है। जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागो और समस्त अवस्थाओ मे रहे उसे गुण कहते है। तथा गुणो के परिणमन को पर्याय कहा जाता है।

प्रत्येक द्रव्य मे अनन्त–अनन्त गुण होते हैं। जिन्हे दो भागो में वर्गीकृत किया जाता है। सामान्य गुण और विशेष गुण, सामान्य गुण सब द्रव्यो मे समान रूप से पाये जाते है और विशेष गुण अपने–अपने द्रव्य मे पृथक–पृथक होने है।

सामान्य गुण भी अनन्त होते है और विशेष भी अनन्त। अनन्त गुणो का कथन तो सम्भव नही है। अत छह समान्य गुणो का वर्णन शास्त्रो मे मिलता है— अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रेमयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व।

प्रत्येक द्रव्य की सत्ता अपने अस्तित्व गुण के कारण है न कि पर के कारण। इसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य मे एक द्रव्यत्व गुण भी है जिसके कारण प्रत्येक द्रव्य प्रति समय परिणमित होता है, उसे अपने परिणमन मे पर के सहयोग की अपेक्षा नही रहती है। अत कोई भी अपने परिणमन मे परमुखापेक्षी नही है। यही उसकी स्वतन्त्रता का आधार है। अस्तित्व गुण प्रत्येक द्रव्य की सत्ता का आधार है और द्रव्यत्व गुण परिणमन का। अगुरुलघुत्व गुण के कारण एक द्रव्य का दूसरे मे प्रवेश सम्भव नही है।

सद्भाव के समान अभाव भी वस्तु का धर्म है। कहा भी है —

"भवत्य भावोऽपि च वस्तुधर्मा।"[2]

अभाव चार प्रकार का माना गया है —

प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य मे अत्यान्ताभाव होने के कारण भी उसकी स्वतन्त्रता सदाकाल अखण्डित रहती है। जहा अत्यन्ताभाव द्रव्यो की घोषणा करता है, वहा प्रागभाव और प्रध्व साभाव—पर्याय की स्वतन्त्रता की दुदभी बजाते है।

जैन दर्शन के स्वातन्त्र्य सिद्धान्त के आधारभूत इन सब विषयो की चर्चा जैन-दर्शन मे विस्तार से की गई है। इनकी विस्तृत चर्चा करना यहा न तो सभव ही और न अपेक्षित जिन्हे जिज्ञासा हो जिन्हे जैन दर्शन का हार्द जानना हो, उन्हे उसका गम्भीर अध्ययन करना चाहिए।

---

१. आचार्य उमास्वामी अध्याय ५–सूत्र–३८

२. आचार्य समन्तभद्र – युक्त्यनुशासन, कारिका ५९

जिन पूजा और उसका रहस्य

—'युगल' एम ए (कोटा)

दिगम्बर जैन समाज में नित्य-पूजा का विधान सनातन है। और नित्य देवपूजा गृहस्थ के कर्तव्यो मे एक प्रमुख कर्तव्य भी मानी गयी है। पूजा के पीछे छिपे भाव तो पूजा के प्राण होते ही हैं। किन्तु मन के अवलम्बन के लिए पूजा के इस अष्टद्रव्यमय बाह्य विधान का भी कम महत्त्व नही है। अन्य धार्मिक विधानो की भाति पूजा को भी गत शताब्दियो मे कई वातावरण मिले हैं। जिनमे पूजा का केवल बहिरूप ही नही वरन् पूजा की आत्मा भी बहुत प्रभावित हुई है। वरन् यो कहना चाहिए कि पूजा की आत्मा तो समाप्त सी हो गई है। पूजा का उद्देश्य ही समूल परिवर्तित हो गया है और उसके अभाव मे बाह्य विधान प्राण विहीन काया तुल्य रह गये हैं।

यह तो लगभग सभी जानते हैं। कि पूजा मे अष्टद्रव्य का फल नही होता किन्तु प्रयोजन तथा भावो का ही फल होता है, अतएव पूजा वास्तव मे द्रव्यप्रधान नही भावप्रधान है। किन्तु चचल मन की स्थिरता के लिए द्रव्य एक सुन्दर अवलम्बन है। इसलिए पूजा के साथ उसकी योजना की गयी है। साथ ही प्रत्येक द्रव्य को एक सुन्दर गीत-राग भाव का प्रतीक बनाकर भाव एव द्रव्य को इस प्रकार जोड दिया है कि ये दोनो पूजा के ऐसे अभिन्न अवयव बन गये हैं जिन्हे अलग नही किया जा सकता। पूजा में अष्टद्रव्य की व्यर्थता सिद्ध करने के लिए आज बौद्धिक जैन अनेक तरको का प्रयोग करके उसे केवल भावात्मक रूप देना चाहते हैं। किन्तु इस प्रयास का प्रयोजन (फल) पूजा जैसे एक महान धार्मिक अनुष्ठान का मूलोच्छेद करने के अतिरिक्त और कुछ नही है। क्योकि गार्हस्थ्य की निर्बल भूमिका मे श्रावक का प्रत्येक कार्य चित्त-वृति की स्थिरता तथा भावोद्रेक के लिए आलम्बन होना है। पूजा जैसे धार्मिक विधान मे भी वह अष्टद्रव्य के रूप मे उसी आलम्बन का अवलम्बन लेता है। प्रगतिशील मुनि भूमिका मे चित्रवृति पर्याप्त सयमित होने के कारण सहज ही यह अवलम्बन छूट जाता है। किन्तु पूजा का प्राण विशुद्ध परिणाम तो अपने उच्चतम स्वरूप मे वहाँ भी विद्यमान रहता है।

पूज्य और पूजक ये दोनो पूजा के प्रमुख अंग हैं। जैनधर्म- मे इनकी अपनी-अपनी विशेषताऐ भी हैं। पूजक रागप्रधान ससार के सुखदुख के द्वारा अना-

दिकाल से छला गया किन्तु वर्तमान मे विवेक-मय प्राणी होता है। (विवेक जाग्रत होता है) और अगणित बार राग से छल जाने के कारण ही वह वीतरागता को उपास्य देव के रूप मे स्वीकार करता है। यह वीतराग-विज्ञानता से सहकृत एक अलौकिक व्यक्ति होता है अत पूजक उस पर रीझ जाता है। उसे इसी मे जगत-छलिया राग के अन्तिम सस्कार के दर्शन होते है, अत वह मुग्ध हो जाता है, तथा अपने भीतर बैठे राग का अन्त करने के लिए अपने उपास्य से विद्या सीखने लगता है इसी विद्या को पूजा कहते हैं। राग का अन्त करना ही इसका एक मात्र प्रयोजन है।

इस व्याख्या से लौकिक कामना मूल पूजा का प्रयोजन तो सहज ही निरस्त हो जाता है। क्योंकि पुजारी तो राग से पहले ही थका होता है। अत वह पुन राग के नेतृत्त्व मे क्यो रहेगा। वह तो विवेक द्वारा राग का नेतृत्त्व करता है। पूजक यह जानता है कि पूजा स्वय शुभ राग है और अपरिपक्व भूमिका की सूचना है किन्तु उसका प्रयोजनराग का वर्धन नही है। जैसे रोगी को रोग है और रोग के विनाश की भावना भी है, किन्तु भावना ही स्वय आरोग्य नही है। उसका प्रयोजन आरोग्य है। अत वह भावना रोगी को आरोग्य की ओर प्रेरित करती है। इसी प्रकार पूजा का शुभराग भी वीतरागता के लिए एक पुनीत प्रेरणा है।

अनन्त-अनन्त लोकेषणाओ का लोभ सवरण करके विवेक के रथ पर आरूढ परम शान्ति धाम की ओर त्वरा से गतिशील पुजारी यह भी सम्यक् जानता है कि उसके उपास्य की वस्तु (द्रव्यस्वभाव) का है वही उसकी भी है। उसमे शक्ति की जो चरम अभिव्यक्ति हुई है, वही उसमे भी होगी अपने उपास्य से सादृस्य और वैसादृश के रूप मे मुक्ति का यह अन्तरग रहस्य उसे पूर्ण निर्णित होने के कारण मुक्ति के प्रति उसके पुरुषार्थ को गति मिलती है। जैन उपासना सर्वथा दास्यभाव से प्रतिवद्ध नही है। यह जैनेतर भक्ति मार्ग की अपेक्षा उसकी अपनी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। दास्यभाव मे भावोत्कर्ष और भावोद्रेक के लिए उन्मुक्त क्षेत्र नही है। जो भक्त दवासा भगवान की कृपा पर निर्भर रहता है उसको पुरुषार्थ के लिए अवकाश नही है। क्योंकि वहाँ तो सव कुछ भगवान की कृपा पर ही निर्भर है। यहा भक्त स्वय भगवान वनने को आतुर है। वह भगवान वनेगा क्योंकि यहा उसके कर्म (पुरुषार्थ) का फल किसी दूसरे के आधीन नही है।

पूजा के सम्वन्ध मे लोग यह भी प्रश्न करते है कि जव पूजा का फल स्वर्गादि मिलते ही है तो स्वर्गादि की कामना पूर्वक पूजा करने मे भी क्या हानि है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यद्यपि पूजा का वाह्यफल स्वर्गादि है। किन्तु स्वर्गादि के लिए पूजा नही की जाती क्योंकि अपनी अन्तरग अविनेश्वर विभूतियो के दर्शन

हो जाने के कारण पुजारी का मन स्वर्गादि बाह्य नश्वर विभूतियों में रमता ही नहीं है । भले ही वह अपनी निर्बलता के कारण इनके बीच मे रहे और इनका आदान-प्रदान भी करे किन्तु इनकी प्राप्ति उसका साध्य होता ही नही है । उसका साध्य उसका परम उपास्य देवता वीतरागता होती है । उसी में उसे भव का अन्त दृष्टि-गोचर होता है । अत वह उसी की पूजा करता है । वीतरागता के उपासक को वीतरागता बनने तक वीतरागता रूप साध्य के ही विकल्प होते हैं तथा होने चाहिए । वीतरागता के उन विकल्प विशेषो को ही पूजा कहते हैं ।

जैसे एक विद्यार्थी किसी उच्च पद के लक्ष्य से विद्याध्ययन करता है और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के पूर्व अपरिपक्व भूमिका में सहज भाव मे गुरु की भक्ति विनय इत्यादि करता है, अध्ययन के फल के रूप मे पुरस्कार आदि भी मिलते हैं। किन्तु उसका लक्ष्य उन सब भूमिकाओ से पार पडा रहता है । पुरस्कार के लिए तो वह अध्ययन नही करता किन्तु पुरस्कार सहज ही मिल जाता है । पुरस्कार मिल जाने पर भी अपनी वृत्ति को पुरस्कार मे नही रमाता वरन् अविराम लक्ष्योन्मुख रहता है । इसी प्रकार पूजक को स्वर्गादि मिलते हैं किन्तु स्वर्ग के लिए पूजा करता है, उसे स्वर्ग नही मिलता क्योकि स्वर्ग के लिए पूजा करने वाले के समक्ष तो अपने देवता के रूप मे स्वर्ग के विषय खडे होते हैं और विषय की उपासना पाप-भाव के बिना सम्भव नही होती और पाप का फल स्वर्गादि नही, नरकादी होते हैं । यदि वस्तुस्थिति का अवलोकन किया जाय तो पूजा का नकद फल तो वास्तव मे अन्तरग शान्ति है । जो पूजक को पुण्य के सान्निध्य से प्राप्त होती है । स्वर्गादि यदि मिलते भी हैं तो वे इस प्रकार हैं जैसे अमृत के पिपासु को गुड का सजोग अथवा अजीर्ण के रोगी को बादाम का हलवा ।

सक्षेप मे जैन उपासना एक आदर्श निष्काम कर्म है । जिसमे न केवल कर्म-फल की वरन् उस कर्म की भी प्रधानता नही है जो शिष्यमान है । इस उपास्य का उपास्य कर्म और कर्म फल दोनो से पार चैतन्य की उच्चतम भूमिका पर प्रतिष्ठित रहता है । उपासक मे ही उपास्य बनने की योग्यता के बीज अनादि मे, विद्यमान रहते हैं । उपासक के उदर (पर्याय) मे ही उपास्य अवतार लेता है । इस प्रकार उपासक और उपास्य भेद विलीन होकर उपासक एक दिन साक्षात् उपास्य बन जाता है, और यही उपासना रहस्य है ।

स्वयंसिद्ध व्यवस्था

—राजकुमार जैन (खनियाधाना)

"जैन दर्शन माने वस्तु दर्शन" भगवान महावीर ने भी इस वस्तुदर्शन को जाना था बनाया नही था। यह वस्तु व्यवस्था आदिनाथ से लेकर वर्तमानकाल पर्यन्त ज्ञानियो ने कही है इसलिए बनी है ऐसा नही है बल्कि ऐसी विश्व की व्यवस्था स्वयसिद्ध अनादि काल से चल रही है ऐसा ज्ञानियो ने माना है। ज्ञानियो ने विश्व की स्वय सिद्ध व्यवस्था को अपने अनुकूल बनने की कोशिश नही की बल्कि अपनी दृष्टि को अपने ज्ञान को और अपने जीवन को इस वस्तु व्यवस्था के अनुकूल ढाला इसलिए उनका जीवन, उनकीदृष्टि, उनका ज्ञान, शास्वत सम्यक् परिणमन कर सका ।

अनन्त ज्ञानियो द्वारा समान-रूप से प्रतिपादित वस्तु की व्यवस्था है कि "अनादि निधन-वस्तुएं भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादा सहित-परिणमित होती है, कोई किसी के आधीन नही है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नही होती।" विश्व मे छ द्रव्य हैं, बल्कि ऐसा कहे कि छ द्रव्यो के समूह का नाम ही विश्व है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छ द्रव्यो के अलावा विश्व मे किसी द्रव्य की सत्ता नही, सभी द्रव्य इन छ द्रव्यो मे ही सम्मलित हैं। उनमे जीव अनन्त, पुद्गल अनन्तानन्त, धर्म, अधर्म, आकाश एक-एक, काल द्रव्य असख्यात लोक प्रमाण है। ये सभी द्रव्य सत् स्वरूप है, स्वय सिद्ध है, अनन्त शक्तियो के धारक हैं, और अपनी-अपनी निश्चित सीमा मे परिणमन कर रहे हैं।

इस प्रकार सभी वस्तुऐ अनादिकाल से स्वय सिद्ध हैं, उन्हे अपनी सत्ता कायम रखने के लिए किसी परसत्ता की आवश्यकता नही। जो पर के आश्रित हो वह सत्ता कैसी। सत्ता नाम ही उसका है जो परनिरपेक्ष हो, आखिर वस्तु को पर की अपेक्षा क्यो ? क्या कमी है उसमे जो वह पर की ओर ताके। प्रत्येक द्रव्य अपने अनन्त गुणो का स्वयम्भू है वह अपने अनन्त गुणो को समूह का चुम्बन करता है। एक द्रव्य पर दूसरे द्रव्य का अधिपत्य स्थापित करना विसवाद करने की अनधिकार चेष्टा है जिससे वस्तु की अनादिनिधन व्यवस्था को आघात होता है प्रत्येक वस्तु मे ऐसी अनन्त अस्तित्वादि शक्तियाँ हैं जो उसे अनन्त काल तक जीवन प्रदान करती हैं। प्रत्येक वस्तु अपनी अन त शक्तियो का भोग करती हैं, अन त शक्तियाँ प्रतिसमय अपना-अपना कार्य कर रहीं हैं मगर फिर भी रचमात्र भी थकान की कमी को प्राप्त

नही हुई निरन्तर कार्य करते रहना उसका स्वभाव है। हृदय निरंतर कार्य करता रहे, तभी वह जीवन दे सकता है। यदि एक समय को वह अपना कार्य करना स्थगित कर दे तो प्राणी की जीवन लीला समाप्त हो जाय। ऐसे यदि एक भी शक्ति कार्य करने से घिसती होती तो आज तक द्रव्यो की सत्ता नाश हो जाती। मगर वह नाश नही हुई न इससे वस्तु की पर निरपेक्ष स्वयं सिद्ध सत्ता की सिद्धि होती है।

मैं कहता हूं मेरा मकान है मेरे मकान को जैसा है वैसा होने के लिए किसी दूसरे के मकान की क्या आवश्यकता है ? उसे दो मन्जिल का होने के लिए तीन मंजिल या एक मंजिल वाले की क्या आवश्यकता है। उसे बनाने के लिए भले पर का आश्रय लेना पड़े कि नीम के पेड़ के सामने पोस्ट आफिस के पास है, मगर वह जिस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मे है उसे उस रूप होने के लिए पर सत्ताओ की कतई आवश्यकता नही है। क्या जीव को जीव होने के लिए अजीव की आवश्यकता है ? उनकी चेतना जड की अपेक्षा है ? एक द्रव्य को अपने जीवन जीने को पर की अपेक्षा क्यो हो और यदि हो तो इस व्यवस्था का अन्त कहा ?

एक आदमी कोतवाली मे रिपोर्ट लिखाने गया कि मुझे अमुक आदमी ने जान से मारने की धमकी दी अत दो पुलिस वाले मेरे साथ कर दिये जायें तब दरोगा बोला यदि ऐसा करने लगे तो देश मे 62 करोड लोग रहते हैं एक-एक के पीछे दो-दो पुलिस वाले लगाने लगें तो एक अरब तीस करोड पुलिस वाले चाहिएं, और पुलिस वाले भी तो आदमी हैं। उन्हे किसी ने मारने की धमकी दी तो क्या होगा। इसलिए अच्छा है सभी अपनी-अपनी सुरक्षा करें। इसी प्रकार एक द्रव्य दूसरे की सुरक्षा करे, सहयोग दे, दूसरा तीसरे को सहयोग दे तो अनवस्था दोष आ जायेगा, वस्तु की स्वतन्त्रता भिन्न-भिन्न हो जायेगी, आत्मा को जीवन के लिए आयुकर्म की आवश्यकता नही, यदि हो तो आयु के साथ द्रव्य का भी अभाव हो जाना चाहिये मगर नहीं हुआ है न आज तक।

यदि द्रव्य मे कोई कमी नही, तो उसे पर की अपेक्षा क्यो हो ? यदि हो तो भी तो वह किस द्रव्य के पास जाये जो वह उसे अपना जीवन जीने के लिये कुछ शक्तियाँ प्रदान कर सके। और दूसरे द्रव्य मे हैं कहा ऐसी शक्तियाँ जो दूसरे को दे सके यदि दे दे तो वह किसके पास जायेगा मागने इस प्रकार तो सारी व्यवस्था पराधीन हो जायेगी। मगर आज भी सारी व्यवस्था स्वाधीन रूप से सुचारू है, कायम है। विचार करें आत्मा भी तो स्वयंसिद्ध परिपूर्ण सत्ता है तो जब पुद्‌गलादि द्रव्यो को पर के आश्रय की अपेक्षा नही है तो उसे क्यो पर की अपेक्षा हो ? वह भी अपनी अनन्त शक्तियो का स्वामी है, अनन्त गुणो का पिण्ड है। उसकी जीवोत्पादक अनंत शक्तियाँ स्वयं उसे अनन्त जीवन प्रदान करती हैं। अनंत ज्ञान

प्रति समय जानने रूप क्रिया है कर रहा है इसलिए उसकी पर की तरफ ताकने की बुद्धि ही मिथ्या है, ससय ही कलक है। आत्मा स्वय अपने अनन्त वैभव को भूल गया इसलिए उसकी वृत्ति परलक्षी हो गई। यदि वह एक बार अपने भगवत् स्वरूप को निहार ले तो अनन्त काल की पराधीन वृत्तियाँ का समन होकर स्वाधीन वृत्तियो का निर्माण हो।

सतो ने इस आत्मा के अनन्त वैभव को जगत के सामने जाहिर किया है कि अरे तेरी आत्मा मे अनन्त ताकत है। जगत के अनेक द्रव्य, उनके अनन्त गुण त्रिकालवर्ती अन तानन्त पर्याय, उनके अन त अविभागी प्रतिच्छेद, इन सबको एक समय मे जानने की ऐसी ज्ञानोपयोग की एक समय की पर्याय की ताकत है जगत मे जीव अन त, उससे अन तगुण पुद्गल, उससे अन तगुण तीन काल के समय, उनमे अन त गुण आकाश के प्रदेश, आकाश के प्रदेशो से अन त गुणे, धर्मास्ति-अधर्मास्ति रूप के अगुरुलघुत्वगुण के अविभागी प्रतिच्छेद और उससे अन तगुणे एक सूक्ष्म लब्धि अपर्याप्त निगोदजीवके अल्प से अल्प ज्ञान के उघाड के अविभागी प्रतिच्छेद न केवल इन सबको वरन् इनसे भी अन त गुणे ज्ञेयो को एक समय मे एक साथ जानने की सामर्थ्य एक केवलज्ञान पर्याय मे है तथा ऐसी अन त पर्यायो को उत्पन्न करने की सामर्थ्य एक ज्ञान गुण मे है ऐसे-ऐसे अन त गुणो का अखण्ड पिण्ड ही निजात्म वैभव है। एक बार भी यदि इस वैभव पर नजर पड जाय तो जीवन निहाल हो जाय।

वास्तव मे ऐसा वैभवशाली सिंहवृत्ति वाला आत्मा गधो के साथ जाकर गधा बन गया उसने अपनी स्वाधीन सत्ता पर के हाथो सोप दी। वगैर डडे पडे ये अपना जीवन चलाने तैयार नही। आज तक आत्मा ने पराश्रित जीवन जिया है। कभी स्व-तन्त्रता के स्वच्छ वातावरण मे विचारने की कोशिश ही नही की। ये भी क्या जीवन है कि मै तुम्हारे पैरो से चलू और तुम मेरे पैरो से, मै तुम्हरा जीवन चलाऊ और तुम मेरे जीवन सहचारी बनो। इसी पराधीन वृत्ति से आत्मा स्वय ससय के पासो मे बधा दु खी हुआ उसने कोशिश की कि सुखी होने के लिए तो अनादि निधन स्वय सिद्ध व्यवस्था को सोप दिया उसमे परिवर्तन करने का व्यर्थ प्रयास किया। अरे जगत की यह स्वचालित व्यवस्था पूर्णत अनुकूल है, हमारे पक्ष मे है कि जहा भगवान बनने के लिए भी भगवान की तरफ न देखना पड़े उसके सहारे का इन्तजार न करना पड़े।

प्रत्येक द्रव्य अपनी सीमा के दायरे मे प्रति समय बदल रहा है और बदलकर ध्रुव ही अपरिवर्तनशील है। क्योंकि बदलने की सीमा रेखा निश्चित है। यदि जीव बदलेगा तो वह बदलकर जीव ही रहेगा कभी अजीव नही हो जायेगा।

आम बदलेगा तो हरा से पीला हो जायेगा आम से केला नही हो जायगा। इस प्रकार वस्तु बदलने पर भी नही बदलती या अपनी निश्चित सीमा मे ही बदलती है। बालक बदलेगा तो जवान होगा जवान बदल के बालक नही हो सकता। मनुष्य बदल के सिद्ध हो सकता है सिद्ध बदलकर मनुष्य नही। आप कहेंगे ऐसा एक तरफ का नियम क्यो? मगर वस्तु की व्यवस्था ही ऐसी है जो पूर्णत स्वाधीन और स्वय सिद्धपद वस्तु की व्यवस्था हमारे अनुकूल है कि एक बार जीवन मुक्त हो जाय तो दुबारा बन्धन की धारा मे जकडना ना पडे।

इस प्रकार अनादि निधन स्वय सिद्ध द्रव्य गुण पर्याय की व्यवस्थित व्यवस्था जिसकी मति मे जम गई उसकी मति भी व्यवस्थित हो गई, और उस व्यवस्थित मति ने उसे भक्त से भगवान बना के छोडा।

आत्म साधना

हे धर्म बन्धु! यह आत्मा को साधने का अवसर है। इस समय तू दुनियाँ की खटपट मे रुककर अपनी आत्म साधना के लक्ष को मत चूकना।

आत्मतत्त्व अति महान् है, ऐसे महान् आत्म तत्त्व को लक्षगत करना यही महापुरुष की सेवा है।

अपने चैतन्य की महानता को लक्ष मे लेगा तो सांसारिक घटनाऐं तुझे आकर्षित नहीं कर सकेंगी। अरे चैतन्य की ऐसी महानता को भूलकर जगत के छोटे-मोटे प्रसगो मे उलझ जाना मुमुक्षु को शोभा नही देता।

जहाँ आत्मसाधना का महान् प्रयोजन है वहाँ सासारिक मान या अपमान, निन्दा या प्रशसा अनुकूलता इन किसी की कोई गिनती नहीं है। आनन्दमय आत्मा की साधना मे जगत की कोई गिनती नहीं है। आनन्दमय आत्मा की साधना मे जगत की ओर क्या देखना? मुमुक्षु को अपनी आत्म साधना का ऐसा प्रेम ऐसा उल्लास ऐसी शाति और ऐसी तल्लीनता है कि उनके अतिरिक्त अन्य किसी कार्य मे रुकना उसे अच्छा नहीं लगता।

—पू० कानजी स्वामी

जैन धर्म की सुखद छाया

—डॉ० नरेन्द्र 'विद्यार्थी' (छतरपुर)

ऊँचा उदार पावन, सुख शान्ति पूर्ण प्यारा।
यह धर्म वृक्ष सब का, निज का नहीं तुम्हारा॥
रोको न तुम किसी को, छाया मे बैठने दो।
कुल जाति कोई भी हो सताप मेटने दो॥

कितना उदार सदेश है धर्म का—"यह धर्म वृक्ष सबका निज का नही तुम्हारा" और कितनी प्रबल प्रेरणा है—कि "कुल जाति कोई भी हो सन्ताप मेटने दो" इसी का जीवन्त उदाहरण थी महावीर स्वामी की धर्म सभा—"समवशरण की रचना जिसमे देव, मनुष्य, पशु, पक्षी तक को समान शरण मिलती थी। स्पष्ट है कि उदार जैन धर्म की आत्मा ने कभी वर्ण, जाति या कुल की अपेक्षा किसी व्यक्ति के आत्म कल्याण को नही रोका, क्योकि उसकी मान्यता उच्चता और नीचता का भेद-भाव व्यक्ति के सुकर्म और दुष्कर्मों पर निर्भर है। जन्म से किसी को ऊँच या नीच मानने की परम्परा जैन धर्म की आत्मा को स्वीकार नही है। व्यक्ति भले ही नीच कुल मे उत्पन्न हुआ हो परन्तु यदि वह सयम, नियम, शील, तप इन्द्रिय विजय जैसे परम-पावन गुणो से विभूषित है तो वह नीच कुल मे उत्पन्न होकर भी उच्च है, और यदि वह भले ही उच्च कुल मे उत्पन्न हुआ हो लेकिन सदाचारी मानव के उक्त गुणो से शून्य है तो वह उच्च कुल मे उत्पन्न होकर भी बरावर नीचा है। इस से यह तो सिद्ध है कि जैन धर्म में बिना किसी जाति भेद या व्यक्ति भेद के मनुष्य देव, पशु, पक्षी जिनमे शूकर कूकर जैसे पशु भी शामिल हैं। सभी ने जैन धर्म की शरण लेकर आत्मकल्याण किया है। ऐसे उदाहरण पुराण मे है। इसलिए कोई वाधा प्रतीत नही होती जिससे कि किसी को ऊँच या नीच के भेद भाव के आधार पर धर्म-सेवन करने से रोका जाय। जैन साहित्य मे, शास्त्रो मे धर्म की उदारता द्योतक ऐसे अनेक प्रमाण है जिनके अनुसार पतित से पतित व्यक्तियो ने जैन धर्म धारण कर उच्च कहे जाने वाले श्रावको की तरह व्रत स्वीकार

कर आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। जैसे वसन्तसेना, कोशी और अनग सेना नामक गणिकाओ ने जिन दीक्षा ले कर आर्यिका के व्रतो का पालन किया। धीवर पुत्री कोसा ने क्षुल्लिका का पद ग्रहण किया। वर्द्धमान, वसु, चामेक नामक गणिकाओ और मान कव्वे तेलिन ने मुनि उपदेश से श्राविका बन कर जिन मन्दिरो का निर्माण कराया। व्यभिचारोत्पन्न कार्तिकेय धर्माचार्य हुये। चण्डाल मेतार्य मछली मारने वाला हरिवल और हत्यारे अर्जुन माली ने मुनि दीक्षा ले कर मोक्ष प्राप्त किया। चाण्डाली पुत्र हरिकेशीवल ने मुनि दीक्षा लेकर आत्म कल्याण किया। यमपाल चण्डाल जैसे हरिजन द्वारा जैन धर्म के परिपालन की कथा तो सर्व विदित है। भगवान महावीर स्वामी के समोवशरण मे कमल का पुष्प चढाने के इच्छुक मेढक की आतुरता और गज पग तले बीच मे ही उसके मारे जाने पर भी पूजा का फल प्राप्त कर स्वर्ग मे देव होने की कथा भी सर्व विदित है। नर्क के नारकी और पशु-पक्षी तक मोक्ष साधक सम्यग्दर्शन के पात्र बन सकते हैं। यह भी सर्व विदित है।

जिस वैदिक सस्कृति के प्रभाव से श्रमण सस्कृति मे जन्म से ऊँच-नीच और स्पृश्य तथा अस्पृश्य का भेद-भाव आया है। उसमे भी ऐसे धार्मिक उदारता के प्रमाण मौजूद है। व्यास, वशिष्ठ, कमठ, कर्ण, द्रोण और पराशर जैसे व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण नही थे परन्तु व्रत धारण कर सदाचारी बने तपस्या की और ब्राह्मण कहलाने लगे। ब्राह्मण ही नही शास्त्र प्रणेता धर्मगुरु और धर्माचार्य भी बने। क्योकि—वैदिक सस्कृति मे भी पहले आज जैसे प्रतिबन्ध नहीं थे। वस्तु सदाचरण का ही जीवन मे महत्त्व है। थोथे जन्मना वर्ण, जाति, कुल गोत्र और वश आदि का नहीं।

महाभारत के बाद जो साहित्य रचा गया, स्मृति युग तक आते-आते उसमें ऊच-नीच के भेद भाव को सूचित करने वाली तमाम दीवारे खडी कर दी गई और इसका प्रभाव जैन धर्म पर भी पडा।

जैन धर्म की उदारता जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अध्ययन किया जाय तो किसी को भी जैन धर्म के धारण करने और तदनुसार व्रतो के परिपालन मे ऐसी कोई बाधा प्रतीत नही होती जिससे कि आज हरिजन कहे जाने वाले लोगो को धर्म सेवन करने से रोका जाय। क्योकि यदि उनके धर्म पालन से धर्म व धर्म स्थल अपवित्र होने का भय होता तो यमपाल आदि चाण्डाल जैसे अछूतों या हरिजनो को वह उत्कृष्ट कोटी के व्रत न दिये जाते जिनके पालन के लिए

गृहस्थ का धर्म अवश्य पालन करना पडा होगा। जिसमे जैन शास्त्रो मे कहे गये छह दैनिक कर्त्तव्यो को अवश्य पालना पडता है। वे कर्त्तव्य है—

"देव पूजा गुरुपास्ति, स्वाध्याय संयमस्तप.।
दान चेद् गृस्थाना, षट् कर्माणि दिने-दिने ॥"

देव पूजा, गुरु की उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये जैन धर्म पालन करने वाले हर एक गृहस्थ के दैनिक छह कर्त्तव्य है। इन कर्त्तव्यो मे सब से पहले देव पूजा का विधान आया है और यह स्पष्ट है कि देव पूजा भली प्रकार से देवस्थान मे ही की जा सकती है। साथ ही गुरु की उपासना एव स्वाध्याय इन दूसरे और तीसरे कर्त्तव्य के लिये भी उन्हे जैन गुरु की और जैन शास्त्रो की शरण लेनी पडी होगी ? इस तरह से देव शास्त्र गुरु मे सच्ची श्रद्धा रखने के कारण तथा साथ ही सयम तप और दान करने से तो इतने निर्मल अन्त करण वाले हो गये होगे कि पहले जो निद्य कर्म करना पडे होगे उनके जन्मार्जित पापो की कलक कालिमा व्रतो मे शुद्ध सलिल से धुलने पर आत्मा का ज्ञान-दर्शन गुण प्रकाश मान हो उठा होगा ? यही कारण है कि मरने के वाद जब वे देव हुए तब देवो ने भी स्वर्ग मे उनकी मान्यता का सत्कार किया। इसलिये आचार्यो ने कहा—

"महा पाप प्रकर्तापि प्राणी श्री जैन धर्मत ।
भवेत त्रैलोक्य सपूज्यो धर्मात् कि भो पर शुभम् ॥

घोर पाप करने वाला प्राणी भी जैन धर्म धारण करने से त्रैलोक्य पूज्य हो सकता है। यमपाल चाण्डाल ही नही अनेको हत्यारे, चोर और व्यभिचारी इस परम पावन धर्म के प्रभाव से सद्गति को प्राप्त हुये है। इसलिये अपनी जाति का या जन्म से प्राप्त होने वाली तथाकथित उच्चता का अभिमान नही करना चाहिये। आचार्यो ने सावधान किया है—

"न जाति गर्हिता काचिद्, गुणा कल्याण कारणम् ।
व्रतस्यमपि चाण्डाल, त देवा ब्राह्मण विदु. ॥

"कोई भी जाति गर्हित नही है, गुण ही कल्याण के कारण है। व्रत से युक्त होने पर चाण्डाल को भी ब्राह्मण कहते है।" इससे यह स्वत सिद्ध हो जाता है कि देव दर्शन व्रत लेने वाला हरिजन भी ब्राह्मणो की तरह जैन धर्म धारण कर सकता है—

"मनोवाक्कायं धर्माय मता. सर्वेऽपि जन्तव ।"

आचार्य सोमदेव ने यह ठीक ही कहा है कि मन, वचन, काया से किये जाने वाले धर्म का अनुष्ठान सभी जीव कर सकते हैं। 'सभी जीव' शब्द से स्पष्ट होता है कि धर्म पालन के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चाहे हरिजन भी क्यो न हो, सभी अपनी-अपनी मर्यादा मे रह कर समान रुप से कर सकते है। यदि ऐसा न होता तो कैसे पतित कहा जाने वाला चाण्डाल सम्यग्दर्शन को धारण कर सकता ? और कैसे यमपाल जैसा पतित अपने मन वचन -काया की शुद्ध दृढता से सद्गति का पात्र भी हो सकता ? यदि अछूत या हरिजन कहे जाने वाले लोग अपने यमपाल काका की कुटिया का दरवाजा इस मोह की अज्ञान निशा मे भूल गये हैं तो उनको हमे एक बार जैन धर्म का विद्युत प्रकाश क्षण भर के लिये प्रदान करना ही पडेगा। इसी को कहा है स्थिति करण अ ग—

'सुस्थिति करण नाम परेषा सदनुग्रहात् ।
भ्रष्टाना स्वपदात् तत्र स्थापन तत्पदे पुन. ॥

"दूसरो पर सदनुग्रह करना ही स्थिति करण है।" वह अनुग्रह यही है कि जो अपने पद से भ्रष्ट हो चुका हो उन्हे उसी पद पर फिर स्थापित कर देना।' यह है जैन धर्म के मूलाधार सम्यग्दर्शन के छठवे स्थिति करण अ ग की महामहिमा। जब कि जैन धर्म को किसी युग का सर्व व्यापि धर्म माना जाता है तो यह स्पष्ट है कि अछूत या हरिजन भले ही आज हिन्दू धर्म को मानते हो पर वे पहले कभी जैन धर्म के अनुयायी अवश्य रहे होगे।

"श्वापि देवोऽपि देव श्वा, जायते धर्म-किल्विषात् ।"

'धर्म के प्रभाव से कुत्ते का देव होना और पाप के करण देव का कुत्ता होना' मानने वाले स्वामी समन्तभद्र ने सम्यग्दर्शन सम्पन्न चाण्डाल को देव कहा है—

"सम्यग्दर्शन सम्पन्न मपि मातङ्ग देहजम् ।
देवा देवम् विदुर्भस्म गूढाङ्गारान्त रौजसम् । ।"

इसलिए उन्होने स्पष्ट भी कर दिया —

"स्वभावतोऽशु चौकाये रत्नत्रय-पवित्रिते ।
निर्जुगुप्सा गुण प्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ॥"

शरीर तो स्वभाव से अपवित्र है, उसमे पवित्रता देखना भूल है। उसकी पवित्रता तो रत्नत्रय से होती है। इसलिए किसी भी मनुष्य के शरीर से घृणा न करा
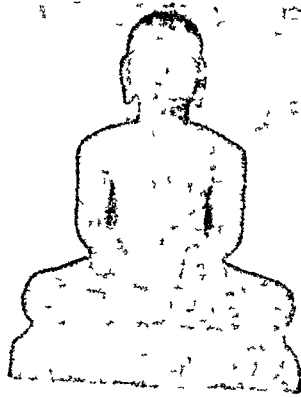
महावीर–सन्देश

जिनके विमल उपदेश मे,

सबके उदय की बात है।

समभाव-समताभाव जिनका,

जगत् मे विख्यात है ॥

जिसने बताया जगत को,

प्रत्येक कण स्वाधीन है।

कर्ता न धर्ता कोई है,

अणु-अणु स्वयं मे लीन है ॥

आतम बने परमात्मा,

हो शांति सारे देश मे।

तीर्थंकर महावीर :
एक दृष्टि में

卐

गर्भावतरण	: आषाढ शुक्ल ६, शुक्रवार (१७ जून, ५९९ ई० पूर्व)
जन्म–दिवस	चैत्र शुक्ल १३, सोमवार (२७ मार्च, ५९८ ई० पूर्व)
जन्म–स्थल	वैशाली गणतंत्र का कुण्डपुर
पिता-माता	महाराजा सिद्धार्थ महारानी त्रिशला देवी (प्रियकारिणी)
वंश	काश्यप ज्ञातृवंश)—क्षत्रिय
शुभनाम	वर्द्धमान, वीर, अतिवीर, सन्मति, महावीर
दीक्षा–दिवस	ज्ञातृखण्डवन--मार्गशीर्ष कृष्ण १०, सोमवार (२९ दिसम्बर, ५६९ ई० पू०)
साधना काल	१२ वर्ष, ५ माह, १५ दिन
केवलज्ञान–दिवस	ऋजुकूला नदी तट (जृम्भक गांव के पास) वैशाख शुक्ल १० रविवार (२६ अप्रैल, ५५७ ई० पूर्व)
प्रथम देशना	राजगृह का विपुलाचल पर्वत--श्रावण कृष्ण १, शनिवार (१ जुलाई, ५५७ ई० पूर्व)
गणधर	इन्द्रभूति (गौतम) आदि ११ (सभी ब्राह्मण)
विहार एवं प्रचार काल	२९ वर्ष, ५ मास २० दिन
निर्वाण	पावापुर मे कार्तिक कृष्ण १५, मंगलवार (१५ अक्टूबर, ५२७ ई० पूर्व)
आयुष्य	७१ वर्ष, ४ मास २५ दिन

[आजीवन ब्रह्मचारी]

———

सार्थकता महावीर के उपदेशों की

—डॉ० राजेन्द्रकुमार बंसल, शहडोल (म०प्र०)

मानव जीवन की विशेषता इस बात मे निहित है कि वह चेतन जगत का एकमात्र ऐसा स्वरूप है जिसे विवेक के साथ साधना करने हेतु बहुमुखी क्षमताएँ प्राप्त हुई है व्यक्ति और समाज के महत्तम कल्याण मे इन क्षमताओ का उपयोग किस प्रकार किया जाये ? इस प्रश्न का उत्तर विश्व के महान चिंतको ने अपने अनुभव एव परिस्थितियो के सदर्भ मे समय-समय पर दिये। कुछ चिंतको की दृष्टि मात्र तात्कालिक समस्याओ तक सीमित थी अत उन्होने उन समस्याओ की सीमा मे तत्कालीन समाधान प्रस्तुत किए जबकि कुछ महान विभूतियो ने सर्व-सर्वत्र सदुपयोगी सर्व-सर्वत्र सुलभ एव सर्वकालिक समाधान मानव जगत के समक्ष प्रस्तुत किये। तीर्थङ्कर महावीर भी उन्ही परम विभूतियो मे से एक थे जिनके पदार्पण से प्राणि मात्र कृतार्थ हुआ था।

तीर्थंकर महावीर स्वामी का महत्त्व इसलिए नही है कि उन्होने अनत ज्ञान, दर्शन, सुख आनद एव शक्ति प्राप्त कर चेतन सत्ताओ को परमात्मा स्वरूप हो जाने का मार्ग बताया था। यह मार्ग तो शाश्वत है अनादि काल से चला आ रहा है और अनत काल तक धारावाही रूप मे आगे भी चलता रहेगा। तीर्थंकर महावीर ने 12 वर्ष की अखण्ड मौन साधना से जो कुछ भी पाया था उसकी परम्परा उनके समय मे पहले से ही विद्यमान थी। इस दृष्टि से उन्होने जो भी पाया था या जिस रास्ते से पाया था वह कोई नवीन एव नूतन नही था। वह तो सर्व-सर्वत्र सुलभ एव त्रैकालिक पथ के अनुयायी थे और उसी का अनुशरण करके वह मुक्त हुए थे।

फिर प्रश्न उठता है कि जब तीर्थंकर महावीर का मार्ग नवीन नही था, सनातन था तो फिर उनके नाम मे इतना हो हल्ला मचाने की क्या आवश्यकता है ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर प्रत्येक विवेकशील मानव जानना चाहता है। इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमे तीर्थङ्कर महावीर के काल एव पर्यावरण की ओर देखना होगा। पहली बात तो यह है कि वे तीर्थङ्कर परम्परा के अतिम तीर्थङ्कर

थे। उन्होने विभाव-विकारो का क्षय कर परम शुद्धता प्राप्त कर ली थी। शुद्धात्मा की प्राप्ति के साथ ही वह सर्वज्ञाता सर्व दृष्टा बन गये थे। दूसरा यह कि काल प्रवाह की दृष्टि से अन्य तीर्थङ्करो की अपेक्षा तीर्थङ्कर महावीर का काल हमारे सबसे निकट का काल है उनके काल मे व्यक्ति एव समाज मे ऐसी दुष्प्रवृत्तियाँ जन्म ले रही थी जिनका प्रस्फुटन एव विकास वर्तमान मे हमे प्रत्यक्ष मे व्यापक रूप से अनुभव हो रहा है। दुष्प्रवृत्तियाँ, शिथिलाचार, अनैतिक आचरण, शोषण युक्त परिग्रही जीवन, भौतिक अभिवृद्धि, भोग विलास की ओर जनमानस का रुझान तथा हिंसादिक क्रियाओ का बाहुल्य आदि प्रवृत्तियाँ उस काल मे जन्म ले रही थी। तीर्थङ्कर महावीर सर्वज्ञाता एव सर्व दृष्टा थे अत उन्होने उनके दूरगामी प्रभावो का अवलोकन अपने दिव्य चक्षुओ से किया और तत्कालीन जिज्ञासुओ की शकाओ के समाधान के रूप मे उसे प्रकट ही नही किन्तु उन्होने उससे बचने का मार्ग भी बताया उनके द्वारा इस सम्बन्ध मे जो कुछ भी दिव्य उपदेश दिया गया वह दिव्य सभा अर्थात् समवशरण सभा मे दिया गया था, जो सर्व प्राणियो को समान रूप से शरण (स्थान) देती थी।

तीर्थङ्कर महावीर के पूर्व आत्मशुद्धि का आत्म श्रद्धान, आत्मबोध एव आत्मलीनता रूप जो मुक्ति का पथ प्रचलन में था, उसके शाश्वत होने के कारण उसे नवीन रूप से कहा हुआ नही माना जा सकता। जो कुछ भी इस सम्बन्ध मे उन्होने कहा मात्र भव्य विवेकशील आत्माओ को सम्बोधन ही था जो उनकी विश्व कल्याणकारी भावनाओ का प्रकटीकरण था। इस दृष्टि से, व्यक्ति आत्म विकास या शुद्धता हेतु उन्होने मात्र प्रेरणा दी, दिशाबोध एव ज्ञान कराया किन्तु व्यक्ति का ऐसा व्यवहार जिसका सीधा प्रभाव समाज की व्यवस्था, विकास एव उन्नयन पर पडता है और जिससे सम्पूर्ण समाज प्रभावित होता है, के सम्बन्ध मे उन्होने आगे आने वाले समय की प्रवृत्तियो को दृष्टिगत कर जो कुछ भी कहा वह उस समय मे जितना नूतन, सत्य एव सदुपयोगी था वह उतना सत्य, सदुपयोगी एव प्रभावशाली आज भी है और आने वाले कल मे भी रहेगा। यही एक ऐसा तथ्य है जो तीर्थङ्कर महावीर को स्मरण करने हेतु हमे उल्लासित करता है।

तीर्थङ्कर महावीर के समय मे अथवा उसके पूर्व श्रमण सस्कृति चातुर्याम के नाम से प्रसिद्ध थी जिसमे अहिंसा, सत्य, अस्तेय एव अपरिग्रह इन चार व्रतो का ही समावेश था। उस काल मे व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन सरल, पवित्र, सदाचार युक्त एव अपरिग्रही था अत उस काल मे जीवन का अग होने के कारण ब्रह्मचर्य के पृथक व्रत को अभिव्यक्त नही किया गया ऐसा प्रतीत होता है। काल प्रभाव के कारण तीर्थङ्कर महावीर के काल मे इन्द्रिय जन्य भोग विलास रूप

अब्रह्मक प्रवृत्तियाँ व्याप रूप से जन्म ले रही थी और इस कारण सामाजिक सम्बन्धो का स्वरूप भी बदल रहा था। इसी प्रकार "यज्ञ की हिंसा हिंसा नभवति" जसे स्वार्थपूर्ण थोथे नारे भी दिये जा रहे थे जिनसे धर्म के नाम पर सकल्पपूर्वक प्राणियो का नृशस रूप से वध किया जा रहा था। नारी एक स्तर पर महान एव उच्च थी तो दूसरी ओर, सार्वजनिक रूप से वह अभिशाप भी थी। वह दासी के रूप मे क्रय विक्रय की वस्तु एव भोग्य मात्र थी। समाज पर पदलोलुपी, असदाचारी, परिग्रही अनुत्तरदायी एव अवसरवादी व्यक्तियो का प्रभाव था जो अपनी राज अर्थ सत्ता के मद मे निर्विघ्न एव निर्भय होकर वह सब कुछ करते थे जो समाज व्यवस्था एव मानव जीवन के लिए कलक था।

आर्थिक सम्बन्ध द्रुतगति से बदल रहे थे। भौतिक सामग्री का उपयोग समाज के महत्त्वपूर्ण कल्याण मे न किया जाकर व्यक्तिगत स्वामित्व एव उपयोग का विषय बन रही थी। धनिक एव निर्धन वर्ग स्पष्ट रूप से व्यक्त होने लगे थे। श्रम विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित वर्ग व्यवस्था पगु हो चुकी थी। वर्ग व्यवस्था जनित महत्तम उत्पादन, कुशलतापूर्ण कार्य सहज प्रशिक्षण व्यवस्था एव परम्परागत दक्षता आदि के सदप्रभाव लुप्त हो गये थे और उसके स्थान पर मानव-मानव मे भेद उच्चता-नीचता के रूप मे प्रकट हो गये थे जिससे एक दूसरे वर्ग को हेय एव घृणित समझ-कर उसे सामाजिक अधिकारो से वचित करने लगा था। उससे परम्परागत आर्थिक चक्र चरमराने लगा था।

सामाजिक ढाँचे का स्वरूप बदल रहा था। सहज मानवीय गुणो के स्थान पर व्यक्ति की महत्वाकाक्षाए हावी हो रही थी। सर्वकालिक सत्य का निरूपण एकाँगी दृष्टि मे किया जाने लगा था जिससे स्वस्थ चिंतन की प्रक्रिया अवरुद्ध हो गयी थी। स्वार्थ एव घृणित भोग विलास लिप्सा की पूर्ति मे धन एव सत्ता का उपयोग एक सामान्य बात थी। राज सत्ता भी उससे अछूती नही थी। यद्यपि राज्य शासन राजतन्त्रो के माध्यम से गणराज्यो के द्वारा होता था फिर भी व्यक्तिवाद को महत्त्व प्राप्त था व्यक्ति समाज के लिए नही होकर स्वय के स्वार्थ पूर्ति तक सीमित होने लगा था, और सामाजिक आदर्श राजअर्थ सत्ता के दास बन रहे थे।

ऐसे सक्रमण काल मे जबकि पूर्व मान्यता एव परम्पराए बदल रही थी तथा सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एव धार्मिक सदस्यो का द्रुतगति से विघटन हो रहा था, तीर्थकर महावीर ने आत्म शुद्धि कर एक मूलभूत लक्ष्य की प्राप्ति के साथ समाज व्यवस्था मे सहकारी के रूप मे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, प्राणिमात्र के प्रति बन्धुत्व, स्वतत्रता तथा समानता आदि का उपदेश दिया। मानवीय

सूक्ष्म विकारो-विभावो के प्रभाव में प्राणिमात्र को मुक्त करने हेतु उन्होंने उनका अत्यन्त सूक्ष्म व्यापक एवं विस्तृत विवेचन किया और सहज मानवीय विकारी व्यवहारों को नियन्त्रित-नियमित करने हेतु विविध व्रतों एव अतिचारों का प्रतिपादन किया। स्वस्थ सामाजिक सम्बन्धो की स्थापना हेतु उन्होंने आत्मोन्मुखी सहज संयमित जीवन को वरीयता प्रदान की। नर-नारी दोनो एक ही गाड़ी के दो पहिये हैं, उनमें भेद कैसा ? पद और भूमिका मे भले ही अन्तर हो किन्तु इस कारण कोई एक प्रधान एव दूसरा गौण नही हो सकता। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए, उन्होंने स्वस्थ एव विकासशील सामाजिक एव पारिवारिक व्यवस्था हेतु नारी को दासी एव भोग्या के स्तर से उठाकर पुरुषों के समान स्तर पर प्रतिस्थापित किया। चंदना इसका ज्वलंत उदाहरण है। उन्होंने इस दृष्टि से, पुरुषों के साथ ही नारियों के आत्म कल्याण हेतु पृथक से याचिका संघ की स्थापना की। पवित्रता एव सदाचरण की दृष्टि से दोनो संघो को पृथक रहने की व्यवस्था कर उन्होंने सहज मानवीय दुर्बलता के दुष्प्रभाव से नारियो को सुरक्षित रखा ?

न्याय युक्त सत्ता एवं राष्ट्र के कानूनी तथा नियमो के प्रति उत्तरदायित्व एव उनके प्रति कर्त्तव्य को दृष्टिकर उन्होंने करवचनए मिलावट, न्यूनाधिक तौल, मर्यादा का उलंघन, चोरी के माल का क्रय-विक्रय तथा झूठ अभिलेखो के निर्माण आदि कुकृत्य नही करने का उपदेश दिया। उन्होने सम्पूर्ण चेतन सत्ताओ को समान स्तर प्रदान करते हुए किसी भी प्राणि के सकल्पपूर्वक वध का पूर्णता से निषेध किया। प्राणियो को मारने पीटने, छेदने,-भेदने, अत्यधिक भार लादकर पीडित करने एव न्यून भोजन को देकर या भूखे रखकर उन्हे दुखी करने आदि क्रियाओ को घोर पापात्मक एव जघन्य अपराध कहा। अहिंसा की सर्वव्यापकता की दृष्टि से, उन्होने सर्वोदयतीर्थ की स्थापना की। उन्होंने दास प्रथा, शोषण पर वस्तु एव अधिकार का हनन, स्वेच्छाचारिता एव कर्तव्यविमुखता का विरोध किया। नारियो को पाशविक एव भोगात्मक अत्याचारो से मुक्ति दिलाने हेतु उन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत का उद्घोष किया। तथा असत्य कथन एव असत्य साक्षी के अन्यायपूर्ण एव आपराधिक प्रभाव से समाज को बचाने हेतु उन्होने 'सत्यव्रत' का उपदेश दिया।

वर्ण व्यवस्था के बाहुपाश मे आबद्ध जरजरित अर्थ एव समाज व्यवस्था को उन्नत बनाने हेतु उन्होने 'मनुष्य जन्म से नही, कर्म (गुणो) से महान् बनता है' के उन्मुक्तसिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इससे न केवल दलित एव शूद्रो को मानवीय सम्मान मिला किन्तु परम्परागत पेशो मे जकडी प्रतिमाओ को भी अपनी रुचि एव स्थान के अनुसार कला एव व्यवसाय आदि के चुनाव का अवसर मिला। इस प्रकार उन्होने "खुली आर्थिक एव सामाजिक व्यवस्था" का प्रतिपादन किया।

वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध "खुली कार्य व्यवस्था" अपने आप मे एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था जो किसी क्रांति से कम नही था। धनिक एव निर्धन वर्ग की समस्याओ के निराकरण हेतु उन्होने कहा कि व्यक्ति अपनी योग्यता एव क्षमता के अनुसार उत्पादन एवं अर्जन करे किन्तु आवश्यकतानुसार ही धन का सग्रह करे और आधिक्य धन-सम्पत्तिको को राज्य या समाज के कार्यो हेतु स्वेच्छा से समर्पित कर दे। इस प्रकार उन्होने क्षमतानुसार कार्य एव आवश्यकतानुसार सग्रह के वहुमूल्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसमे प्रतिक्रिया रहित सर्वसामाजिक-आर्थिक एव राजनैतिक समस्याओ के समाधान के शाश्वत वीज निहित है। आर्थिक क्रिया कलापो के चक्र मे कही अमूल्य मानव जीवन न चला जावे अत उन्होंने अनियन्त्रित व्यापारिक क्रियाकलापो, आवागमन एव भोग-उपभोग को मर्यादित, नियमित एव सतुलित करने तथा यत्नाचार पूर्वक व्यापार उद्योग चलाने हेतु उपदेश दिया। इस उद्देश्य हेतु उन्होने विविध स्तर पर व्रतो के परिपालन हेतु कहा जिससे कि व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार उत्तरोत्तर वृद्धि रूप मे उनका पालन कर सके।

परोन्मुखी न्याय को दृष्टिगत कर उन्होने कहा कि न्याय एक ऐसा तथ्य है जो दूसरे के द्वारा न किया जाकर व्यक्ति या प्राणीमात्र द्वारा स्वत्र के प्रति किया जाता है। शुभ-अशुभ विचारो के विकल्पो मे झुलसती हुई आत्म शक्तियो की सुरक्षा स्वय के प्रयासो द्वारा ही सम्भव है। जब तक व्यक्ति निर्विकार व्यवहार एव आचरण द्वारा अपने को अपराध रहित रूप मे देखेगा तब तक वह स्वय की सुरक्षा एव न्याय तो करेगा साथ ही समाज की दृष्टि से भी वह अत्यत वीर, निर्भीक, परोपकारी एव न्यायप्रिय सिद्ध हो सकेगा। ऐकांगी चिंतन पद्यति एव हठवाद पर तीव्र प्रहार करते हुए उन्होने वस्तु के अनेकात्मक स्वभाव की ओर इंगित करते हुए कहा कि सत्यान्वेषी भी वस्तु स्वरूप का जब तक विविध दृष्टियो से अवलोकन नही करता तब तक उसे सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान नही हो सकता। इसी प्रकार वाणी की आवश्यता को दृष्टिगत कर उन्होंने सापेक्षित अभिव्यक्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। सक्षेप में, उन्होंने अहिंसा, त्याग, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सदाचार, अनेकात्मक उन्मुक्त चिंतन पद्धति एव सापेक्षिक अभिव्यक्ति की पद्धति का अत्यन्त सूक्ष्म एव व्यापक रूप से निरूपण किया जिनके सद्भाव मे आत्मोन्मुखी विकार-विभाव रहित सगठित विकासशील समाज की रचना सम्भव है।

समग्र रूप मे जब हम अवलोकन करते है तो स्पष्ट होता है कि तीर्थङ्कर महावीर ने आत्म शुद्धि के मार्ग के सहकारी के रूप मे जो व्रत सिद्धान्त, नियम, उप-नियम एव व्यवस्थाऐ वताई उनमे आज के युग की ऐसी कोई समस्या नहीं है जिसका सम्यक् समाधान प्राप्त नही होता हो। उन्होंने समाज को 'नारो' एव वादो

केंद्रद एव सकीर्णता से ऊँचा उठाकर आत्मोन्मुखी, सहज, स्वत विकासशील, अर्थ-समाज व्यवस्था का सकेत दिया जो वर्ग भेद एव वर्ण भेद से रहित सबके लिए समान रूप से कल्याणकारी होने के कारण सर्वोदयी है। इस प्रकार आत्म विकार या आत्म शुद्धिकरण पर आधारित तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रतिपादित धार्मिक सामाजिक एव-आर्थिक सरचना की उपादेयता वर्तमान मे ही नही किन्तु आने वाले काल मे भी सदैव नित नवीन रहेगी। आवश्यकता है कि तीर्थंकर महावीर के उपदेशो एव उनके द्वारा प्रस्तुत व्यक्ति एव समाज के विकास परक गूढ रहस्यो को पोथी-पत्रो से निकालकर उन्हे आवरण का विषय बनाया जावे और प्राणीमात्र को समर्पित तीर्थंकर महावीर को जन-मन की आकाक्षाओ का प्रतीक मानकर उनकी वाणी एव उपदेशो के अनुसार जीवन क्रम बदला जाय। यदि ऐसा सम्भव हुआ तो वादो नारो एव सूत्रो की दौड से ऊपर उठकर समग्र मानव जीवन आध्यात्मिक एव भौतिक दृष्टि से स्वतत्र, निर्भय एव निर्विघ्न रूप से विकास कर सकेगा और तभी तीर्थंकर महावीर की सार्थकता सिद्ध हो सकेगी।

(पृठ ६८ का शेष..   )

अपितु उसके गुणो से प्रेम करो, यही निर्विचिकित्सता है।" कहना यह है कि जब शरीर स्वभाव से सभी का अपवित्र है, चाहे वह ब्राह्मण हो, जैन हो, अथवा भगी ही क्यो न हो, तब जो लोग अछूता के गन्दे धन्धो से होने वाली अस्वच्छता को उनके शरीर की अपवित्रता मान लेते हैं और उस मूर्खतापूर्ण मान्यता के बलबूते पर उनकी आत्मा को भी अपवित्र कहकर धर्म वचित करने का प्रयत्न करते हैं वे स्वय आत्म निरीक्षण करके देख लें कि उनके शरीर मे ऐसा कोई अवरोधक प्रबन्ध नही है जिससे भगी जैसे काम से होने वाली अस्वच्छता उनके भी शरीर मे न घुस सके। और न शरीर सहनन मे भी ऐसा अन्तर है कि उन अशुद्धि के कीटाणुओ के प्रभाव से वह अछूता रह सके। फिर भी यदि उनके सेवा गुण से हम प्रीति न भी कर सकें तो दुत्कारने का अधिकार हमे नही दिखाना चाहिए। क्योकि यदि जैन धर्म के सिद्धान्त सत्य हैं तो जिस धर्म के प्रभाव से कुत्ता देव हो सकता है उसके प्रभाव से ये भूले भटके हरिजन भी अपना आत्म कल्याण कर सकते हैं।

महावीर निर्वाणोत्सव पर हमारा दायित्व

—डा० ताराचन्द जैन बख्शी (जयपुर)

भगवान महावीर किसी वर्ग या सम्प्रदाय के व्यक्ति नही थे। उन्होने जो तत्त्व दर्शन दिया, वह केवल जैनो के लिये ही नही, किंतु सबके लिये था। समता, समन्वय और सयम महावीर के सर्वाधिक प्रिय सिद्धातो मे से है। समता का दर्शन देने से पहिले उन्होंने प्राणी मात्र के प्रति समीपता की अनुभूति की। इसी आधार पर उन्होने प्राणी मात्र की चेतना की स्वीकृति दी। हमारा कर्त्तव्य है कि हम समता एव समन्वय के सिद्धात को विश्वव्यापी बनावे और मानवीय समता की सार्थकता सिद्ध करें।

समन्वय की भूमिका पर भगवान महावीर ने सह-अस्तित्व एव समानता की नीति का प्रतिपादन किया। इस नीति को राजनैतिक क्षेत्र मे मान्यता मिली, अन्त-र्राष्ट्रीय क्षेत्र मे स्वीकृति मिली, पर जैन एकता के लिये इसका उचित उपयोग नही हो सका। विचार भिन्नता मानव का स्वाभाविक गुण है। इसे मिटाना कठिन है, किंतु इसमे सामजस्य बिठाना आवश्यक है। भगवान महावीर द्वारा उपदेशित अनेकांत वाद के महान सिद्धात को हम जैन ही जीवन मे नही उतार सके, यह कितनी बडी विडम्बना है। मै कहता हू, वही सत्य है, यह आग्रह मनुष्य को भटका देता है। एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से समझाकर उसके अनेक धर्मो का अस्तित्व प्रमाणित किया जा सकता है। स्यादवाद् आग्रह को समाप्त कर सामूहिक जीवन को सरस बनाता है। मतभेद होना स्वाभाविक है, किन्तु मनभेद एव आग्रही मनोवृत्ति के कारण ही छोटे से जैन समाज मे भी अनेक पन्थो का उदय हुआ है।

वर्तमान युग मे सयम की बडी आवश्यकता है। सयम को दमन का रूप न देकर अन्त प्रेरणा से स्वीकृत करना अधिक लाभप्रद है। हिंसा, असन्तोष, सग्रह, शोषण, अन्याय आदि सब असयत मन की निष्पत्तिया हैं। इन सब को रोकने के लिये आत्मसयम का सिद्धात सजग प्रहरी का काम करता है। समन्वय, स्वतन्त्रता अहिंसा, अपरिग्रह ये सब आत्मसयम के फल हैं। आज देश में जो अराजकता, फूट, सिद्धात-हीनता, पदलोलुपता का घृणित वातावरण फैल रहा है, उसका मुख्य कारण सयम का अभाव एव निजी स्वार्थ का प्रभाव है। वाणी सयम एव आत्मसयम के बिना देश

एव समाज का पतन अवश्यभावी है। धार्मिक एव नैतिक शिक्षा के अभाव मे चारो ओर उच्छृंखलता बढ रही है। भगवान महावीर के अनुयायी जैनियो का परम कर्त्तव्य है कि वे समता, समन्वय एव सयम के सिद्धातो को प्रथम अपने जीवन में उतारे, एव आपसी भेदभाव को भूलकर एकता के सूत्र मे बन्ध कर भगवान महावीर के महान सिद्धान्तो का जन-जन म प्रचार एव प्रसार करे, तभी समाज एव राष्ट्र मे सुख, शांति व्याप्त होकर प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हो सकते है। दीन, दुखी, दरिद्र एव प्राणी मात्र के लिये भगवान महावीर के सन्देश को सुलभ बनाकर ही हम सच्चे अर्थ मे निर्वाणोत्सव (दीपावली) मना सकते हैं।

'सम्यग्दर्शनसपन्नमपि मातगदेहजम ।
देवा देव विदुर्भस्मगूढागारान्तरौजसम् ॥२८॥"

भावार्थ—राख मे सयुक्त अगारा ऊपर से भले ही राख सरीखा दिखे किन्तु उसके भीतर जाज्वल्यमान अग्नि छिपी रहती है इसी प्रकार चाडाल जाति मे सयुक्त सम्यग्दृष्टि ऊपर से भले ही चाडाल दिखे किन्तु अतरग मे सम्यग्दर्शन का तेज विद्यमान है इसलिये वह देवों से भी श्रेष्ठ है।

जीवन संगीत

—रूपवती 'किरण'

सिखा दो प्रभु ! जीवन-संगीत,
धरा पर एक बार आओ !
ज्वाल से झुलसे हृदयों में,
मृदुल जलजात-उगा जाओ ॥

कुटी माटी की जर्जर-तम,
कौन जाने कब हो अवसान ।
न सांसो का किंचित विश्वास,
लुटेरा लुटेगा अनजान ॥

कहाँ खोया मानव, अवशेष—
कलंकित उसका यह कंकाल ।
भरा है पोर-पोर में जहर,
झुक गया मानवता का भाल ॥

विश्व निर्विष हो जाए देव,
अमृत का घूंट पिला जाओ ।
सिखा दो प्रभु ! जीवन-संगीत
धरा पर एक बार आओ ॥

निठुर कांटो सी चुभती रही,
भावनाएं अपनी विकराल ।
छला करता है क्षण-क्षण हृदय,
कल्पनाओं का माया जाल ॥

चाह के आँचल में लुट गये,
जिसे समझे हम शीतल छाँह।
विपैला दर्शन सा दे गई,
सहारे को पकडी जो बाँह ॥

चरण डगमग हम हुए अधीर,
सुधामय मन मे छा जाओ।
सिखा दो प्रभु! जीवन-सगीत,
धरा पर एक बार आओ ॥

चढ गए आडम्बर के कलश,
लालसाओ के मन्दिर पर।
जहाँ पनपा करता है स्वार्थ,
साधना वहाँ न सुन्दर-तर ॥

देवता खण्डहर मे छुप गया,
उच्च असान पर बैठा चोर।
खीच दो देव! सत्य का चित्र,
टूट जाए अनन्त की डोर ॥

जला दो ज्ञान-ज्योति तम चीर,
यहाँ घट-घट मे वस जाओ।
सिखा दो प्रभु! जीवन-सगीत,
धरा पर एक बार आओ ॥

— ❀ .—

इय सव्व-दुलह-दुल्लह दसण-णाण तहा चरित्त च।
मुणिऊण य ससारे महायर कुणह तिण्हपि ॥

इस तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र को ससार की सवदुर्लभ वस्तुओ मे दुर्लभ जानकर इन तीनो का आदर करो।

तीर्थंकर महावीर

—श्रीमती शैल बसल एम. ए (जयपुर)

वर्तमान जैन सस्कृति के सस्थापक तीर्थंकर ऋषभदेव की परम्परा मे तीर्थंकर ावीर अन्तिम चौबीसवे तीर्थंकर है।

महावीर स्वामी का जन्म प्राचीन लिच्छवि गणतन्त्र की राजधानी वैशाली राजा सिद्धार्थ व राजमहिषी त्रिशला देवी के यहा आज से २५७६ वर्ष पूर्व चैत्र ला त्रियोदशी के दिन हुआ था। उनके जन्मोत्सव पर परिजनो और पुरजनो, देवो ा इन्द्रो ने हर्षोल्लास मनाया।

बालक वर्द्धमान जन्म से ही आत्मज्ञानी, विचारवान, विवेकी तथा निर्भीक थे। ाको इसलिये वीर, अतिवीर, सन्मति, वर्द्धमान व महावीर आदि नामो से सस्मरण ाया जाता है।

बालक वर्द्धमान पर राजघराने की विपुल वैभव सामग्रियो का रचमात्र भी ा न चढा। उन्हे न वैभव से लगाव था न विषय भोगो से चाव। यद्यपि वे ३० र्ष की आयु तक घर मे रहे लेकिन उनका मन घर मे रमा नही। माता-पिता के त्यधिक आग्रह पर भी उन्होने विवाह नही किया। ३० वर्ष की पूर्ण यौवनावस्था ससार और शरीर भोगो से विरक्त हो दिगम्बरी दीक्षा धारण की। २८ मूलगुणो का लन करते हुये, अन्तर्बाह्य घोर तपश्चरण करते हुए ४० वर्ष की अवस्था मे उन्हे वल्य की प्राप्ति हुई।

केवलज्ञान प्राप्त होने पर महावीर स्वामी ने अपना प्रथम उपदेश श्रावण ी प्रतिपदा को राजगृह के निकट विपुलाचल पर्वत पर दिया, उन्होने अनेक प्रदेशो मगल विहार किया व उपदेश दिया। उनकी धर्मसभा को समवशरण कहते हैं। नकी धर्मसभा मे सभी उपस्थित होते थे, कोई भी भेदभाव नही था। उनके पदेशो के आधार, विचार मे अनेकान्त, आचार मे अहिंसा, वाणी मे स्याद्वाद, माज में अपरिग्रह है। वे प्रत्येक आत्मा का अस्तित्व स्वतन्त्र मानते थे और अहिंसा त्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह पर पूर्ण बल देते थे। वे कहते थे—'मित्ती मे व्वभूदेसु'।

अर्थात् मेरा सब जीवो के साथ मैत्रीभाव है।

विशाल भारत के विस्तृत वसुधाखण्ड पर तीर्थंकर महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित एव पुनर्स्थापित अहिंसा ही एक ऐसा तत्व है जिसकी सुदृढ नीव पर महावीर के महावीरत्व या जैनत्व का अचल महाप्रसाद खडा है। यदि महावीर के जीवन मे से अहिंसा तत्व को निकाल दिया जाये तो कुछ भी अवशेष नही बचेगा। महावीर के उपदेशो मे सर्वाधिक प्रतिष्ठा-अहिंसा तत्व की है। महावीर और अहिंसा एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। विश्ववद्य बापू ने कहा था—'यदि आज कोई महावीर को जानता है तो उनकी अहिंसा के कारण।'

भगवान महावीर ने अहिंसा को सर्वाधिक परमधर्म घोषित किया है। उन्होंने हिंसा को कम करने के लिये सहअस्तित्व, सहिष्णुता, समताभाव पर जोर दिया है। प्रसिद्ध जैनाचार्य अमृतचन्द्र ने अन्तरग पक्ष को लक्ष्य मे रखते हुये पुरुषार्थसिद्धयुपाय नामक ग्रन्थ मे हिंसा अहिंसा की परिभाषा इस प्रकार दी हैं—

'अप्रादुर्भाव. खलु रागदीना भवत्यहिंसेति।
तेषा मेवोत्यपिहिंसेति जिनागमस्य सक्षेप ॥"

अर्थात् आत्मा मे राग-द्वेष-मोहादि भावो की उत्पत्ति होना हिंसा है और इन भावो का आत्मा मे उत्पन्न नही होना ही अहिंसा है। यही जिनागम का सक्षिप्त सार है।

तीर्थंकर महावीर सर्वोच्च समन्वयवादी थे। उन्होने बतलाया कि प्रत्येक पदार्थ मे विभिन्न अपेक्षाओ से बहुत गुण हैं लेकिन अज्ञानी व्यक्ति भी पदार्थ को विभिन्न अपेक्षाओ से न देखकर अपने दृष्टिकोण से देखते हैं और उसमे जो भी कुछ जाना उसका आग्रह करने लगते हैं। इस प्रकार वे उस पदार्थ का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने मे तो असफल रहते ही है साथ-साथ एक दूसरे से मतभेद व वैमनस्य भी पैदा कर लेते है।

महावीर स्वामी ने जो सिद्धान्त ससार को दिये, वे किसी विशिष्ट श्रेणी के व्यक्तियो, किसी विशेष देश तथा किसी विशेष काल के लिये ही नही थे अपितु अनेक सिद्धान्त सार्वभौमिक और देश तथा काल की सीमाओ से परे थे। उनके द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्तवाद व पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्त आज भी उतने ही सत्य, उपयोगी, व्यावहारिक है, जितने कि आज से हजारो वर्ष पूर्व थे।

उन्होने जो मार्गदर्शन सिद्धान्त प्रस्तुत किये उनमे अन्धश्रद्धा को कोई स्थान नही है। वे सिद्धान्त तर्क-वितर्क की दृष्टि व समय की कसोटी पर खरे उतरे हैं।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीर अनेक जनपदो मे ३० वर्ष तक मंगल विहार करते हुए व अपना सैद्धान्तिक शखनाद फू कते हुये चतुर्विध सघ (श्रावक, श्राविका, श्रमण, श्रमणी) सहित पावानगरी मे पहु चे और प्रसिद्ध पावानगरी सरोवर के तट पर मनोहर उद्यान मे ध्यान मुद्रा मे तल्लीन हो गये। उसी स्थान पर कार्तिक कृष्णा अमावस्या को प्रात.काल चर्म शरीर त्यागकर ७२ वर्ष की अवस्था मे जन्म-मरण के आवागमन से मुक्त हो गये। उसी समय गौतम गणधर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। महावीर स्वामी के निर्वाण महोत्सव और गौतमगणधर के केवलज्ञान की खुशी मे मगध सम्राट, लिच्छिवियो और वज्जियो के गणनायको ने मिलकर दीपोत्सव मनाया। तभी से दीपावली पर्व प्रचलित हो गया।

आज भी हम दीपावली पर्व वडे हर्षोल्लास से मनाते है। चू कि इस दिन महावीर स्वामी निर्वाण को प्राप्त हुये थे और गौतमगणधर को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था। इसलिये हमे उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो पर चलना चाहिये तभी यह पर्व मनाना सार्थक होगा। आइये हम सब इस दीवाली निर्वाण महोत्सव पर्व पर मिल कर सकल्प ले कि महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो पर अमल करेंगे; नही तो दीपावली पर्व पर दीपमालिका प्रज्वलित करके हर्षोल्लास मनाना निरर्थक ही है।

—•○—

तू अभी तक थका नहीं

मुनिराज योगीन्दुदेव कहते हैं, अरे! जीव तुझे कब तक ससार मे भटकना है? तू अभी तक थका, नही! अब तो आत्मा में आकर आत्मिक आनन्द भोग। अहा! जैसे पानीका झरना बहता हो वैसे यह धर्म का झरना बहता है—पीते बने तो पी। जैसे पुण्यशाली को पग-पग पर निधान मिलता है वैसे आत्मा-पिपासु को पर्याय-पर्याय पर आत्मा मे से आनन्द-निधान मिलता है।

क्षणिकाएं

—सुरेश 'सरल'
जबलपुर (म० प्र०)

मधुर मद मुस्कान
मुझे
महावीर मूर्ति से मिलती है
धर्म सुधा से
सिंची साधना
स्वत. शाति से
खिलती है ।

महावीर का नाम
सौ बार उचारने के बजाय
महावीर प्रणीत
एकाधा आचरण
जीवन मे उतारले
भव-परभव
सवार लें ।

वह
महावीर की देशना थी
कि आदमी
देवता के भेष मे
मिलते थे । ....
अब हम और न भूले
और
इतना ही याद रखें
आदमी है—
कम से कम
आदमी का भेष रख !

(आगमपथ से साभार)

महावीर का दिग्दर्शन

भानु जैन, बी काम. (ललितपुर)

भगवान महावीर जैन दर्शन की उन विभूतियो मे से है जिन्होने कि जगत की सयोगतम् उपलब्धियो को भी ठुकराकर निज अक्षय आनन्द सत्ता का सहारा लिया और जगत को अपने भावो तथा शरीर की नग्नावस्था से इस बात का दिग्दर्शन कर दिया कि सयोगो मे चैतन्य का आनन्द सुख एव शाति नही है । उनकी मुद्रा ही इस बात का दिग्दर्शन करती है ।

महावीर ने अपने जीवन मे उस शांति और आनन्द का आत्मसात् किया जो कि जगत की सयोगतम् उपलब्धिया कर लेने पर भी नही होता है अर्थात् जगत के सभी पदार्थ जिस समाधान को देने मे असमर्थ है उस समाधान को उन्होने अपने जीवन मे अपनी अक्षय आनन्द सत्ता के आश्रय से आत्मसात् किया । फलत उस समाधान का सामना, (Face to face) जगत की उनके निकट रहने वाली संयोगतम् वस्तुए नही कर पाई और उस शाश्वत समाधान को देखकर शरमा करके उनसे अतिदूर भाग गई । यह शाति और आनन्द के समाधान स्वरूप ही अध्यात्म है जो कि जीव मात्र को अपने जीवन की अनादिकालीन चिर दु ख रूप परम्परा को मिटाने हेतु परमोपादेय है । यह जिन्दा जीवन की पहिचान है इसके अभाव मे जीवन को मौत कहे तो इसमे कोई अत्युक्ति नही होगी । इसके सद्भाव मे ही जीव की प्रतिष्ठा (Credit) है और यही जीवन का सच्चा शृगार है । इसके अभाव मे अनन्त सयोगतम् शृगार की उपलब्धताये भी शाति और आनन्द देने मे हार खाती हैं । इसकी उपलब्धि मे जगत के अनन्त प्रतिकूल सयोग तथा अनन्त अनुकूल सयोगो के वियोग होने पर भी शांति, आनन्द एव सुख समाधान रह सकता है तथा ज्ञाता दृष्टारूप से रहकर अकर्त्तृत्व (ज्ञातापन) का सिद्धान्त निभ (पाला जा) सकता है । जैनागम का प्रथमानुयोग इसके जीते जागते ज्वलन्त उदाहरणो से भरा पडा है और जगत को इस बात का दर्शन बोध देता है कि—"पुण्यपाप परिणाम जो कि

पूर्व मे किये हैं वह उदय मे नो आयेगे और उनके उदय के निमित्त से अनुकूल प्रतिकूल सयोग भी अवश्य मिलेंगे लेकिन इन सुपरिस्थतियो या दु परिस्थितियो मे दु ख अशाति और आकुलता न हो इसका इन्तजाम वर्तमान मे अपनी आनन्द सत्ता मे अह की भावना का स्थापन करने से किया जा सकता है क्योकि वस्तु स्वरूप तो मुकने वाला है नही अर्थात् परिस्थितियाँ तो वदलने वाली हैं नही अव इन्ही परिस्थितियो मे दु ख न हो इसका उपाय निज आनन्द सत्ता के आश्रय मे किया जा सकता है।" प्रथमानुयोग इसके उदाहरण भी देता है—सियार के द्वारा काटा गया, गले मे सर्प डाला गया, पानी वरसाया गया, तूफान चलाया गया, समुद्र मे फेका गया, सिर पर सिगडी जलाई गई, शरीर मे गर्म लोहे के आभूषण पहनाये गये आदि उपसर्ग हुए—लेकिन इस आनन्द सत्ता के वल (Base) पर ही इन दु परिस्थितियो मे भी ज्ञाता दृष्टा रूप से रहा जा सका इसके अलावा दूसरा कोई उपाय भी नही था न है और न रहेगा। इस अक्षय आनन्द सत्ता की समझ और सुलभता के अभाव मे या तो उपसर्ग कर्त्ता को भगाने की कोशिशे की जायेगी या स्वय भागने की कोशिश की जायेगी यदि लज्जा एव लाजवश शरीर से भागना न होगा तो कम से कम (Minimum) अपनी अक्षयानन्द सत्ता से च्युत (भ्रष्ट) होकर के उपयोग तो जरूर भागेगा इसके अलावा कोई गति नही हो सकती है।

इस अध्यात्म के अभाव मे वैराग्य और अकर्त्तत्व (ज्ञातापन) की बाते मात्र विकल्पो के आधार पर ही होती हैं जो कि अध्यात्मरस के विना शुष्क और शाति के समाधान देने मे हार खाती है।

महावीर ने जहाँ एक ओर प्रत्यक्ष तथा युक्ति, न्याय और तर्कादि प्रमाणो से यह बताया कि आत्मा एक तिनके के दो टुकडे नही कर सकता है वहाँ दूसरी ओर उसे यह भी वताया कि तुम्हे पर मे करने के विकल्प करना पडे ऐसी वात भी नही है। अर्थात् पर मे तुम्हे कुछ करने की आवश्यकता भी नही है। इस तरह निज अक्षय आनन्द पूर्ण सत्ता के आधार पर अर्थात् एक हाथ मे पूर्ण सत्ता देकर (वताकर) दूसरे हाथ से पर कर्त्तत्व की रुचियाँ एव भ्रम छुडाया है। यह पर कर्त्तत्व कोरे (शुष्क) ज्ञान मात्र के समाधान देकर नही वरन् आनन्द एव शाति स्वरूप निज आनन्द सहित (With hapines) छुटाया है। यह ही अध्यात्म है। इसके अभाव मे अनन्त सयोगतम् उपलब्धताये भी शाँति और आनन्द देने मे हार खाती हैं, तथा अध्यात्म के अभाव मे वैराग्य एव अकर्त्तत्व (ज्ञातापन) की बाते स्वप्न मात्र है जो कि शाँति और आनन्द को जीवन मे कभी साकार नही कर सकती हैं।

महावीर अपने जीवन से यही दिशावोध देना चाहते थे क्योकि जिसे जो इष्ट

लगता है उसी को वह अपने जीवन मे पाने की कोशिश करता है और अत मे पाकर ही रहता है। भगवान महावीर भी इसी तरह के महान आत्मा थे जिन्होने चैतन्य की शाति, चैतन्य के तल मे ही तलाशी और उस शाति को तलास करके परकतत्व के निरीह मूर्खता के प्रतीक विश्वासो, बुद्धियो एव आचरणो को सहज मे ही त्याग दिया। और जगत को भी यह बताया कि चैतन्य तत्व की समझ के अभाव मे ही पर कर्तत्व की अनधिकृत चेष्टाओ रूप विकल्पो की उत्पत्ति होती है और जब यह आत्मा आनन्द धाम आत्मा का ख्याल करता है तब यह पर कर्तत्व के विकल्प जागने की अवस्था मे नींद की भाति भाग जाते है। इस तरह निज पूर्ण सत्ता के आधार पर ही भगवान महावीर ने सारे विकारो की जननी पर कर्तत्व की भावना को त्यागा और इसके अभाव मे इसकी संतान रूप सारे विकारो का भी क्षय हो गया। भगवान महावीर ने अपनी करतूतो से हमको भी यह दिशा बोध दिया कि चैतन्य की शाति और आनन्द चैतन्य मे ही है और बाहर मे नही, आखिर मे बाहर मे हो तो हो क्यो ? जब चैतन्य आत्मा स्वय एक सत्ता है, जब वह पर सत्ताओ से निरपेक्ष रहती है तो उसका आनन्द और शान्ति पर के आश्रित हो तो हो क्यो ? अर्थात् नही हो सकता है। क्योकि पर से चैतन्य का द्राव्यिक (द्रव्यगत) भेद (भिन्नता) होने से आनन्द को भोगने मे यह भिन्नता बाधक है इस तरह पर मे आनन्द की कल्पना कभी साकार नही हो सकती है।

इस प्रकार भगवान महावीर का दिग्दर्शन का केन्द्र एक मात्र निज पूर्ण आनन्द सत्ता ही था-जिसकी छाया मे चैतन्य की वृत्तिया आनद शाति और सुख का जीवन जीने की कला सीखती है और अपने चिर सचित, अरमानो को साकार करके अपनी अनादि कालीन दुखी दरिद्र और दयनीय दशा को मिटाती है। यहां से ही चैतन्य के जीवन की वास्तविक शुरुआत होती है। चैतन्य के जीवन का यह एक [illegible] है [illegible] ही जैन शब्दावली मे सम्यक्दर्शन कहा जाता है, जोकि जगत की [illegible] को ठुकराकरके उनसे अपने पूर्वानुभूत अनुबंधो को तोड़कर निज [illegible] से [illegible] रूप है। यह सम्यक्दर्शन चैतन्य तत्व के प्रति [illegible] (आपर्पित-भाव) होने की चरमोत्कर्ष (श्रेष्टतम्) स्थिति का नाम है। जिसमे कि 'किसके प्रति आर्पित हुआ जा रहा है ?' और 'कौन आर्पित हो रहा है' इस तरह का कोई विकल्पात्मक भेद नही है— यद्यपि तात्विक भेद तो तब भी विद्यमान रहता है लेकिन कोई विकल्पात्मक (चिन्तवनात्मक) विकल्प विद्यमान नही रहता है। इस तरह सम्यक्दर्शन स्वय अक्षय चैतन्य तत्व नही होते हुए भी अपने को [illegible] अक्षय चैतन्य तत्व मानता है। – 'मेरा चैतन्य तत्व है' ऐसा भी [illegible] नही है। यदि ऐसा भेद भी इसमे हो तो तत्वचिन्तन और सम्यक्दर्शन मे

क्या अ तर है ? एक मात्र यही अ तर तो है कि तत्वचितन मे अपने को आत्मा मानते हुए भी आत्मा का स्पर्श नही है। जब कि तत्त्वदर्शन (सम्यक्दर्शन) मे, वह अपने को चैतन्य तत्व मानता है न कि मेरा चैतन्य तत्व। इस तरह एकत्व की अथवा आकर्षण की चरमोत्कर्ष स्थिति को सम्यक्दर्शन कहते हैं– जिसमे कि आकर्षण (आकर्षण रूप वृत्ति) और आर्पणेय (ध्येय) का भेद (विकल्प) भी विलय को प्राप्त हो चुका है। इसी परिस्थिति मे ही स्वाभाविक आनद की उपलब्धि तथा अनुभूति सम्भव है जब तक भेद विद्यमान रहेगा तब तक उस स्वाभाविक आनन्द का अनुभव असभव है क्योकि जिस तरह अतिथि को निजगृह से भी सुन्दर गृह, व्यजनादि सम्बन्धियो (रिश्तेदारो) के यहाँ आनन्द नही दे पाते, और रोजाना दिन गिनता है इसका कारण है कि उसे,प्रतिसमय व्यजन भोगते हुए निज गृह और पर गृह का भेद विद्यमान रहता है इस तरह उन व्यजनो को भी ठीक तरह से नही भोग पाता है इसी तरह जब तक इस चैतन्यतत्त्व का अनुभव करने वाली वृत्ति मे चैतन्य तत्त्व और उसकी अनुभूति करने वाली, मैं ! इस तरह का भेद (विकल्प) विद्यमान रहेगा तब तक वह जो चैतन्य का वास्तविक आनद है उसे अनुभव नही किया जा सकेगा क्योकि उस आनद को भोगने मे अनुभव करने वाली वृत्ति मे-अनुभव करने वाली और अनुभवमे आने वाले तत्व का जो भेद (विकल्प) विद्यमान है, वह चैतन्य के वास्तविक आनन्द को नही भोगने देगा। इस तरह वह भेद आनन्द की राह मे बाधक तथा खटक (काटा) महशूस होगा। जैसे कि– आख मे एक छोटी से छोटी कणिका आख के विषय को देखना भी हराम कर देती है इसी तरह यह ध्याता और ध्येयका विकल्प चैतन्य का आनद हराम कर देगा। इस तरह भगवान महावीर का वास्तव मे यह कितना वैज्ञानिक एव विलक्षण चिंतन है जो कि जगत के जीवों को आमत्रण देता है कि भाई इस पर से परम निरपेक्ष मार्ग को स्वीकार कर अपने दयनीय दिनो को मिटा कर एक अभूतपूर्व जीवन जियो। जिससे कि सारी वृत्तियो का दरिद्रपन एव मृत जीवन समाप्त हो कर एक नया आनद का सुप्रभात हो जो कि कभी क्षय को प्राप्त नही होता। यह जीवन ही सभी को परमोपादेय है। कोई भले ही इसे न मान कर अपने जीवन मे प्रकट न करे लेकिन वस्तु व्यवस्था उन सभी विषयो मे शाति और आनद के शोधको को चुनौती देती है कि पर सत्ताओ मे शाति और आनद की खोज करते-करते अनत बार मरे, अनत-अनत बार और मर जाना लेकिन उस शाति, आनद एव सुख को कभी साकार नही कर पाओगे। वस्तु व्यवस्था का यह अभिशाप है उनको जो कि निज आनदस्वरूप पूर्णसत्ता को ठुकराकर पर सत्ताओ को आनन्द शाति और सुख के ज्ञापन देकर उन्ही से शाति और आनद की आशायें लगाये हुए है, वही पर दृष्टियाँ लगी हुई है इन्ही आशाओ के आधार पर जी रहे हैं।

इस प्रकार भगवान महावीर ने जिस वस्तु स्वरूप को जाना उसी का प्रतिपादन करके हम एक आनंदमय गर्व सहित जीवन जीने की कुन्जी दी है। इस तत्वज्ञान रूप कुंजी के बल पर हम सब भी अपने जीवन मे शांति और आनंद का आत्मसात् करे ऐसी मंगल भावना के साथ विराम पाता हूँ।

"शास्त्रो के माध्यम से हम हजारो वर्ष पुराने आचार्यो के सीधे सम्पर्क में आते है। हमें उनके अनुभव का लाभ मिलता है। लोकालोक का प्रत्यक्ष ज्ञान तो हमे परमात्मा बनने पर ही प्राप्त हो सकेगा, किन्तु परोक्ष रूप से वह हमे जिनवाणी द्वारा प्राप्त हो जाता है। सर्वज्ञ भगवान के इस क्षेत्र-काल मे अभाव होने एव आत्मज्ञानियो की विरलता होने से एक जिनवाणी की ही शरण है।"

"जो समस्त जगत को जानकर उससे पूर्ण अलिप्त वीतराग रह सके। अथवा पूर्ण रूप से अप्रभावित रहकर जान सके, वही, भगवान है।"

वीर प्रभो की वाणी ही दानवता को बदलेगी

—कल्याण कुमार 'शशि'

पनप रही हिंसक प्रवृत्तिया, जग मे आग लगी है
दानवता विकराल रूप, धारण कर आज जगी है,
विश्व शान्ति के आकर्षण से जग में महाठगी है,
अन्तरग मे विध्वसो की दावानल सुलगी है।

पता नही कितने अनिष्ट, आगे और करेगी
महावीर के सदशो से जग को शाति मिलेगी।

महावीर ने हिंस-वृत्ति को, सात्विक मोड दिया था
मानव का सम्बन्ध, अहिसा, पथ से जोड दिया था,
त्रस्त जगत को परमशान्ति की, सुखद स्वास आई थी,
करुणा, दया अहिसा की, आभा जग पर छाई थी,

वीर प्रभो की वाणी ही दानवता को बदलेगी।

विश्वशान्ति की कपटी रचा, दुनियाँ व्यर्थ रहेगी,
किन्तु इस तरह छल प्रपच-की खाई नही पटेगी,
बधी हुई अणु की आँखो पर, हिंसा की पट्टी है,
मुख मे शान्ति, बगल मे धोखे की टट्टी है,

यह कागज की नाव सिन्धु मे कब तक और टिकेगी,
वीर प्रभोकी वाणी ही दानवता को बदलेगी।

ऊपर–ऊपर विश्वशान्ति का ध्रुव प्रयत्न जारी है,
अन्दर–अन्दर विश्वविनाशक रण की तैयारी है,
मित्रवश मे शत्रु कौन है, यह पहिचान कठिन है,
हिंसा, हत्या रक्तपात के वातावरण मलिन है,

ऐसी निर्मम दानवता की धारा कहाँ रुकेगी,
वीर प्रभो की वाणी ही दानवता को बदलेगी।

❀-❀

भगवान महावीर का सन्देश

—डा० देवेन्द्र कुमार शास्त्री (नीमच)

भगवान वीतरागी महावीर ने विश्व के नाम आध्यात्मिक सन्देश दिया था। उन्होने ससार के सभी प्राणियो के लिए बताया था कि सत्त्व के विभाजन के कारण प्राणी मात्र दु ख का अनुभव कर रहा है। मनुष्य आज विभक्त हो गया है। उसकी समग्र चेतना आहत एव अवरुद्ध हो गयी है। चेतना अपनी अखण्ड सत्ता मे है। किन्तु मानव अपने (स्व) और पराये (पर) के अनन्त सयोगो मे अपनी अनुभूति कर रहा है। 'मैं' चेतना की मुर्छा है, क्योकि वह आत्म-प्रतीति से हमे दूर हटा देती है। उसकी पृथक् सत्ता नही है, इसका हमे कभी अहसास ही नही होता। यही कारण है कि हमारी दृष्टि सदा बहिर्मुखी रहती है। हम कभी अन्तर्मुखी होने का प्रयत्न नही करते। अन्तर्मुखी होना चेतना के अस्तित्व का विस्तार है और चेतना के शाश्वत अस्तित्व की प्रतीति होना ही अध्यात्म है।

जीवन एक सयोग है। यह सयोग भौतिक पदार्थो का न होकर सुख का, पाप-पुण्य का है। यदि जीवन है तो अच्छी-बुरी वस्तुओ का, प्राणियो का, रग-रूपो का, शुभ-अशुभ भावो का साहचर्य तथा सम्बन्ध होना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव-सापेक्ष है। वस्तु अपने आप मे अच्छी और बुरी नही है। वह जैसी है, वैसी ही है। किन्तु उसके साथ उपयोगी या अनुपयोगी सम्बन्ध स्थापित होने के कारण वह अच्छी या बुरी हो जाती है। इसी प्रकार से ससार की कोई वस्तु सुन्दर या असुन्दर नही है, वरन् उसके प्रति बनने वाले हमारे रुचि-सस्कार ही उसे सुन्दर या कुरूप कहने लगते है। जब तक यह सापेक्षमूलक विवेक बुद्धि हमारे व्यवहार जगत मे प्रतिफलित नही होती, तब तक आध्यात्मिक जागरण होते ही दृष्टि पलट जाती है, आत्म निरीक्षण की एक नई प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। फिर यह बाहरी लोक अर्न्तजग का ही प्रतिबिम्व लक्षित होने लगता है। वास्तव मे आत्मलोक मे पहुँचने के लिए मानस की अवचेतन गहराइयो मे उतरना होता है, जहाँ मन की अनेक गाठे धीरे-धीरे खुलने लगती है। एक-एक ग्रन्थी अनेक आटो से मिलकर बनी होती है। अचेतन मन के इन आवेगो, आवेशो की अनुभूति कर काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि की ग्रन्थियो को शिथिल करते जाना ही आधुनिक भाषा मे मनोचिकित्सा कही जाती है।

मनुष्य शरीर से उतना अशक्त, रोगी या दुर्बल नही होता, जितना कि मन से। शरीर की बीमारी के लिए मनुष्य का मन एक बहुत बडा तथा प्रमुख कारण है।

मनुष्य दुखी है, क्योकि रोगी हैं। मनुष्य दुखी है, क्योकि निर्धन है। मनुष्य सतप्त है, क्योकि साधन-विहीन है। भ० महावीर कहते हैं कि मनुष्य इसलिए दुखी, सतप्त और पीडित नही है, क्योकि उसके पास साधनो का अभाव है, वह निर्धन तथा रोगी है, वरन् इसलिए दुखी है कि उन साधनो मे उसकी आशक्ति है, साधनो के लिए उसके मन मे लालसा है वह उनमे परिग्रह-बुद्धि रखता है। नही तो क्या कारण है कि शरीर मात्र भौतिक साधन का आलम्बन लेने वाले श्रमण एव निर्ग्रं थ साधु भीतर-बाहर से नग्न होने पर भी सुख-शान्ति का अनुभव करते है और भिक्षा जीवी सदा निर्धनता के विलाप मे सतप्त देखे जाते हैं। वास्तव मे किसी वस्तु मे सुख-दुख नही है, वह तो हमारे भीतर मे इष्टानिष्ट सकल्प विकल्पो मे है। आध्यात्मिक साधना का यह बिन्दु निन्तान्त वैयक्तिक है और यह मार्ग निवृत्तिमूलक है। यह आत्म-साधना से ही उपलब्ध हो सकता है। सम्भवत इसी को लक्ष्य कर विश्वकवि स्व० रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा था कि महावीर ने भारतवर्ष मे उस मुक्ति का सन्देश दिया था जो कि वास्तविक धर्म है, रूढि मात्र नही। महावीर की यह निवृत्तिमार्गी परम्परा वास्तव मे हमे मुक्ति की ओर ले जाती है। जहा न दुख है, न सुख है, केवल अक्षय, अबाधित, शाश्वत शान्ति तथा अखण्ड अनुभूति की परमानन्दमय सच्चिदानन्द स्थिति है।

भगवान महावीर का दूसरा सन्देश समाज के नाम था। वास्तव मे यह कोई प्रथम सन्देश से भिन्न नही है। इसका मूल भी आध्यात्मिक चेतना है। ससार के छोटे-बडे असख्य प्राणी दुख से मुक्त होना चाहते हैं, किन्तु करते वही है, जिसका परिणाम अनन्त दु खदायी होता है। ऐसे प्राणियो को पहले व्यक्ति के महत्व को स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि व्यक्ति की सत्ता सर्वोच्च है। मनुष्य नर से नारायण बन सकता है किन्तु वही मनुष्य नारायण बन सकता है, जो पहले मानव बन चुका है। केवल मानव के शरीर को पा लेने मात्र से वह मनुष्य नही हो जाता। मनुष्य को अपनी भाति दूसरे को भी समझना चाहिए। जो जीवन हम मे है, वही जीवन अन्य प्राणियो मे भी है। सभी प्राणियो मे एक ही चेतना समान रूप से व्याप्त है। अहिसा धर्म इस मूल दृष्टि से ही विकसित हुआ है। सभी मत अहिसा को धर्म मानते हैं। परन्तु जब तक मनुष्य मे स्वार्थ बुद्धि, राग द्वेष, की भावना है, तब तक सूक्ष्म से सूक्ष्म हिसा होती ही रहती है। जीवन का ऐसा कोई भी समय नही है, जब मनुष्य हिसा के भावो मे वर्तन नही करता है। क्या सोते, क्या जागते, प्रति समय मनुष्य का मन शुभ या अशुभ भावो की क्रिया मे निरत रहता है। अतएव सामाजिक

धरातल पर मनुष्य को सुखी बनाने के लिए 'आध्यात्मिक साम्यवाद' की स्थापना श्रेयस्कर है। मनुष्य अपने ज्ञान को, वैभव को, सुख-सम्पदाओ को अपने तक सीमित न रख सके, वह सब मे हुआ है। समान वितरण करता रहे। यही साम्यवाद की मूल भावना है। केवल बाहरी सम्पत्ति का नियन्त्रण (सामाजिकरण) कर देने से दुःख से मुक्ति नही मिलेगी। मनुष्य को अपनी मनोवृत्तियो का नियन्त्रण स्वय करना आवश्यक है। मनुष्य सामाजिक या प्रशासनिक बन्धनो तथा नियन्त्रणो मे अपनी-अपनी स्वाभाविक उन्नति नही कर सकता। क्योकि अन्य सभी व्यवस्थाए थोपी हुई व आरोपित होती हैं। अत मनुष्य के सम्यक् विकास के लिए अहिंसामूलक समाज-रचना ही कार्यकारी है। श्रमण सस्कृति की दृष्टि मे मनुष्य मात्र ही सब कुछ नही है। मनुष्य की भाति असख्य प्रकार के प्राणी इस ससार मे विद्यमान है। उनमे भी चेतना और जीवन है। वे हमारे परिवार के सदस्य है। उनकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है? उनके सुख-दु ख का ख्याल रखना, अपने ही सुख-दु ख के ध्यान रखने के समान है। इस विचारधारा मे से दूसरो के प्रति प्रेम, सम्मान, करुणा और मैत्री प्रकट होती है।

मैत्री अहिंसा की ही विधायिका शक्ति है। यदि हम दूसरो की सहायता नही कर सकते, उनका कुछ बना नही सकते, तो हमे क्या अधिकार है कि उनका आहत करने का विचार मन मे लाए? इस मैत्री भावना का विकास सह-अस्तित्व मे लक्षित होता है। केवल अपनी अवस्था, जाति और गुण की समानता रखने वालो में ही नही, पेड-पौधो, वनस्पतियो और पानी आदि के प्रति भी हमारे मन मे सम्मान की भावना होनी चाहिए। क्योकि इन सभी मे जीवन है। 'मित्ती मे सव्वभूदेसु' (सत्त्वेषु मैत्री) प्राणी मात्र से मैत्री होनी चाहिए। तभी हमारे जीवन मे सुगन्ध आ सकती है। मनुष्य केवल अस्थि-चर्म का पुतला नही है, वरन् वासनाओ तथा सस्कारो का सघात मात्र है। बिना सेवा भावना के मनुष्य मे नि स्वार्थ वृत्ति उत्पन्न नही हो सकती। और जब तक मनुष्य मे नि स्वार्थ भावना नही आती, वह अपनी क्षुद्र कामनाओ से ऊपर नही उठ सकता। ऐसे ही लोगों के लिए भ० महावीर की वाणी है—

जह ते ण पिय दुक्ख तहेव तेसि घि जाण जीवाण।

जैसे तुमको दु ख प्रिय नही हैं वैसे अन्य जीवो को भी दु ख प्रिय नही है।

जो आधि-व्याधि से पीडित हैं, निर्धन हैं, इसलिए दु खी है, उनके प्रति वचन हैं :

बिज्जावच्चु ण पह कियउ दिण्णु ण ओसहदाण।

एवहिं वाहिहिं पीडियउ कदि म होहि अयाणु ॥

हे अज्ञानी ! तुमने न तो सेवा की और न औषध-दान दिया, इसलिए व्याधियो से पीडित होकर दुखी क्यो होते हो ?

इतना ही नही, सेवा से रहित मनुष्य के व्रत-समूह भी नही ठहरते—

विज्जावच्चें विरहियउ वयणियरो वि ण ठाइ । सा० ध०, १३६

मनुष्य भले ही साधन-हीनता के कारण कुछ करने मे समर्थ हो या नही, पर शुभ भाव करने मे तो सर्वथा स्वतन्त्र है। इसलिए भ० महावीर का सन्देश है कि मनुष्य को ही नही, प्राणी मात्र को निरन्तर शुभ भाव करते रहना चाहिए। जीव के शुभ भाव को पुण्य और अशुभ भाव को पाप कहते हैं। कहा है—

सुहपरिणामो पुण्ण असुहो पाव ति हवदि जीवस्स । पचास्ति० १३२

जहा भावो मे निर्मलता है, वहा व्यवहार मे भी शुद्धि आ सकती है और जहाँ आचार-विचार मे शुद्धता है, वहा न तो कोई तनाव, सघर्ष या द्वन्द्व होगा और न किसी प्रकार की आकुलता ही। इसलिए जीवन मे शान्ति और सुख उपलब्ध करने के लिए भावो को शुद्ध बनाना चाहिए यही भ० महावीर का सन्देश है।

---

० "कपोल-कल्पित चमत्कारो की बढ़ा-चढा कर चर्चा करना भगवान का बहुमान नही, भक्ति नही, वरन् उनमे विद्यमान वीतरागता, सर्वज्ञता, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि गुणो का चिन्तवन, महिमा, बहुमान ही वास्तविक-भक्ति है।"

—सत्य की खोज

\+ + +

० "लौकिक सुख (भोगो) की इच्छा से, आकाक्षा से परमात्मा की उपासना करने वाला व्यक्ति वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा का उपासक नही वस्तुत वह भोगो का उपासक है।"

—सत्य की खोज

महावीर से....

—अनूपचन्द न्यायतीर्थ (जयपुर)

महावीर !

हमें सद्बुद्धि दो
हम आपके अनुयायी हैं
राह में भटक गये हैं
थोड़ी आत्म शुद्धि दो
हम अपने आपको
क्या समझते हैं, नहीं जानते
केवल दूसरे के दोषों को
चाहे वे ढके हुए हों, तुरत पहिचानते
यह हमारी आदत हो गई
हम इसे बुरा नहीं मानते
आपने तो स्वय को देखा है
और अपने को पाया है
पर की ओर देखना
सरासर झूठ और माया है
पर हम तो पर में ही रमे हैं
पर को ही परमेश्वर मानते हैं
अपनी सत्ता को भूल बैठे
स्वयं को नही पहिचानते हैं ।

——❀——

प्रतिबिम्बित पूरी ज्ञेयावली.......

.......पर चिन्मयता को आंच नही

—विनोदकुमार जैन (विदिशा

विषय भोगो मे व्यस्त इस भौतिकवादी चकाचोध मे जहाँ एक ओर समस्त प्राणी जगत सासारिक भोग सामग्री मे सुख मानकर उसकी प्राप्ति के लिये सतत प्रयत्न किया करता है वही दूसरी ओर प्राणी जिसके पास कि वर्तमान मे पर्याप्त भोग समाग्री मौजूद है परन्तु वह भी किसी न किसी प्रकार की अपनी इच्छाओ की पूर्ति मे सलग्न है।

इस प्रकार यह प्राणी सुख प्राप्ति के लिये हमेशा से मृग मारीचिकावत भटकता रहा पर कही पर भी सच्चे सुख की गन्ध तक न आयी और आना भी नहीं चाहिये क्योकि सुख शाति का सम्बन्ध इच्छाओ की पूर्ति से न होकर इच्छाओ के अभाव पूर्वक आत्मा की मुख्यता से है।

इस प्रकार पर मे सुख खोजने वाले विचारधारा के प्राणियो को वहाँ से हटा कर अपने सर्वज्ञ स्वरूप आत्मा की ओर लक्ष्य करने की बात कहे तो प्राणी बडी जटिलता और दु ख का अनुभव करता है। ऐसी विचारधारा से युक्त प्राणियो को निर्मम आनन्दमय सर्वज्ञ की व उनमे प्रगट अनन्त महिमावन्त केवलज्ञान की दिव्यता कि बात समझाना असम्भव तो नही पर जटिल अवश्य हे।

प्रत्येक ससारी प्राणी जिसको कि वर्तमान मे ज्ञेयो की लुब्धता प्रगट रूप से पाई जाती है उनके मस्तिष्क मे यह विचार आये बिना नही रहता कि दुनियाँ मुझे किस प्रकार जाने और मैं दुनियाँ को किस प्रकार जानू। इस प्रकार इस कार्य की सिद्धि के लिये वह प्राणी बहुतायत् विपरीत प्रयत्न निरन्तर किया करता है लेकिन वह इस कार्य की सिद्धि मे अपने आप को हमेशा असफल रूप अनुभव करता है किन्तु वह यह नही जानता कि इस कार्य मे सफलता कब मिल सकेगी।

जैन दर्शन मे एक ऐसी विचित्र कला अनन्त ज्ञानियो के द्वारा दर्शाई गई है कि तू स्वय अपने आप को जान ले अर्थात् जिन समस्त पर पदार्थों को तू जानना

है उतनी ही महिमा यदि नव तत्वो मे छिपी हुई ज्योति आत्मा की आ जाये तो बिना किसी पदार्थ की जानने की इच्छा किये तीन लोक व तीन काल के समस्त पदार्थ स्वच्छ दर्पणवत् प्रतिविम्बित होंगे, क्योकि ज्ञान का स्वभाव दर्पण के समान है।

जिस प्रकार की स्वच्छ दर्पण के समक्ष आये हुये समस्त पदार्थ उसमे यथावत् रूप से युगपत् प्रतिविम्बित होते हैं। यहा पर पदार्थो मे ऐसी शक्ति नही कि वह स्वय अपनी शक्ति से प्रतिबिम्बित् हो लेकिन उस स्वच्छ दर्पण की स्वच्छता और निर्मलता तो देखो जिसके सामने आने वाला प्रत्येक पदार्थ अवश्य रूप से प्रति-विम्बित होता ही है। उसी प्रकार जिस जीव को अपने शुद्ध चेतनामयी आत्मा की महिमा आकर उसकी प्रतीति होती है तो मानो उसको केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है और तब उस अनन्त महिमावन्त केवलज्ञान रूपी दर्पण मे आलोक सहित तीन लोक व त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ यथावत् रूप से युगपत् प्रतिभासित होते हैं। इसमे उन पदार्थो की महानता नही बल्कि उस केवलज्ञान की विशालता और महानता तो देखो। जिसमे कि बिना आग्रह व बिना किसी क्रम के प्रतिबिम्बित होते रहते है।

इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए आचार्य अमृतचद्र पुरुषार्थसिद्धियुपाय नामक ग्रन्थ के मगलाचरण मे लिखते हैं कि जिसमे दर्पण के तल के समान समस्त पदार्थ समूह त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायो के साथ युगपत् प्रतीबिम्बित (प्रतिभासित) होता है वह उत्कृष्ट केवलज्ञान ज्योति जयवन्त वर्तो।"[1] केवलज्ञानी की प्रत्येक समय मे जो पर्याय प्रति समय हो रही है वह अखण्ड ज्ञेय रूप प्रतिभास को लिये हुये ही होती है और ज्ञान का स्वभाव जानना होने के कारण केवलज्ञान अपनी उस पर्याय को समग्रभाव से जानता है इसलिये केवल ज्ञानी अपने इस ज्ञान परिणाम द्वारा छ. द्रव्यो और उनकी सब पर्यायो का ज्ञाता होने से केवल ज्ञान एक निरावरण स्वच्छ और सागोपाग दर्पण के समान है। दर्पण और ज्ञान मे बस इतना ही अन्तर है कि दर्पण के समक्ष जो पदार्थ आते हैं, आते हुये प्रतिबिम्बित तो होते हैं लेकिन दर्पण मे इतनी शक्ति नही कि वह उन पदार्थो को भलीभाति जान सके क्योकि दर्पण तो जड अर्थात् पुद्गल है और पुद्गल का स्वरूप स्पर्शन, रस, गन्धवर्ण रूप है। परन्तु केवल ज्ञान मे इस प्रकार की शक्ति वहाँ कि वह अन्य अनन्त जितने भी जड चेतन समस्त पदार्थ हैं वह केवल ज्ञानी के ज्ञान मे व्यक्त रूप से सभी आकारो के साथ प्रतिभासित होते हैं तथा वह उसको जानता भी है। यही कारण हैं कि

१–तज्जयति पर ज्योति. सम समस्तै सन्त पर्ययै.।
दर्पण तल इव सकला प्रति फलति पदार्थ मालिका यत्र ॥१॥

उसने आकाश की अनन्तता को व तीन लोक की अनन्तता को जान लिया। इसमें किसी भी प्रकार का सशय सम्भव नही क्योकि पदार्थ जिस रूप मे है वह उसी रूप मे केवलज्ञानी के ज्ञान मे प्रतिभासित होता है अन्य नही।

केवल ज्ञानी की महानता को जानकर कतिपय प्राणी आश्चर्यचकित हो जाते हैं और विचार करते हैं कि यह तो बडी आश्चर्यचकित बात है कि जिस ससार मे हम रहते हैं उस ससार मे हम देखते हैं कि एक व्यक्ति जिसका कि ज्ञान अल्प है वह यदि काम भरी नजर से वस्त्र धारण की हुई स्त्री को देखता है तो उसको विकार उत्पन्न हुये बिना नही रहता लेकिन केवल ज्ञानी की अद्भुत अचिन्त्य महिमा और निर्मलता है जिसके ज्ञान मे सकल निरावरण पदार्थों को युगपत् जानता हुआ भी किंचित मात्र भी विकारता को प्राप्त नही होता है क्योकि वह वीतरागी और सर्वज्ञ है। इस प्रकार वे वीतरागी और सर्वज्ञ तो एक समय मे अनन्त ज्ञानदर्शनादि गुणो का भोग करते हैं। इसलिये ज्ञानी कहते है कि अपने को तो ज्ञान मे पर पदार्थों की भिन्नता ख्याल मे आ गई, मेरा ज्ञान तो सदैव ज्ञान रूप ही रहता है रागादि विकार रूप होता ही नही।

यदि कोई प्राणी सर्वज्ञपने की सिद्धि को ही नही मानता तो कहते हैं कि वह प्राणी सर्वज्ञता को ही तिलाजली नही वलिक जैनदर्शन की वस्तु व्यवस्था को तिलान्जली और चैलेन्ज दे रहा है लेकिन वह नही जानता कि जैनदर्शन आत्म दर्शन का नाम है और जो मनुष्य जैन दर्शन को चेलेन्ज देता है तो मानो वह स्वय अपने आप को पतन के रास्ते पर ले जाकर फूलो भरी शैय्या को छोडकर काटो से लदी शैय्या पर चलना स्वीकार कर रहा है। इस प्रकार सर्वज्ञता की सिद्धि स्वीकार कर उसके ज्ञान समस्त ज्ञेयावलि प्रतिबिम्बित होते हुये भी अन्तर मे विराज मान ज्ञानानन्द स्वभावी चैतन्य मूर्ति आत्मा को किंचित भी आच तक नही आती है।

यदि कोई प्राणी ऐसी शका करता है कि यदि आत्मद्रव्य अपने आप को जान ले और फिर समस्त पदार्थ प्रतिभासित नही हुये तो? लेकिन यह कदापि नहीं होता। प्रवचनसार मे कुन्दकुन्दाचार्य देव कहते हैं "कि यदि जीव को अपना ज्ञान स्व-रूप आत्मा का ज्ञान हो जाये और तीन काल स्थित समस्त पदार्थों का ज्ञान न हो ऐसा कदापि हो सकता नही अर्थात् जो एक साथ त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ पदार्थों को नही जानता उसे पर्याय स्वहित एक द्रव्य भी जानना शक्य नही है।" [1]

१—प्रवचनसार गाथा—४८

चाहता है उन समस्त पर पदार्थों पर से अपनी दृष्टि विमुख कर निर्विकल्प स्वरूप अपनी आत्मा को जान लेगा तो पुन तेरे अत करण मे दुनियाँ को जानने का विकल्प उठेगा नहीं, और यदि ऐसा विकल्प उठता है तो समझना चाहिये कि तुझको अभी अपनी आत्मा का ज्ञान व ध्यान नही हुआ।

बडी विचित्र बात है कि जब जगत के सर्व पदार्थों को जानने की इच्छा मन मे उत्पन्न हुआ करती है तब तक आत्मा मे समस्त पदार्थों को जानने की शक्ति (केवलज्ञान) प्रगट नही हुआ करती। और जब जानने की शक्ति प्रगट हो जाती है तब समस्त पदार्थों के प्रति जानने की इच्छा क्षणिता को प्राप्त हो जाती है।

"वही आत्मा जिसका की ज्ञान एक समय पूर्व पराङ्मुख था और एक समय बाद जब स्वसन्मुख हुआ तो उसके ज्ञान मे पर्याय रूप से आयी हुई न्यूनता भी निकल जाती है और इस प्रकार उसके अक्रम रूप से वह आलोक सहित त्रिकाल वर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् रूप से जानने लगता है।

इस प्रकार केवलज्ञानी का ज्ञान यदि अनुत्पन्न व नष्ट पर्याय मात्र को ज्ञान निर्विघ्न, अखण्डित प्रतापयुक्त, महासामर्थ्य द्वारा बलात् अत्यन्त आक्रमित करे तथा वे पर्यायें अपने स्वरूप सर्वस्व को अक्रम रूप से अर्पित करे तब ही वह केवलज्ञान की दिव्यता है और पराकाष्ठा रूप ज्ञान के लिये यह सब योग्य है।"[1]

केवलज्ञानी के ज्ञान की कोई ऐसी अद्भुत व अचिन्त्य महिमा है कि वह समस्त द्रव्य और उनके अनन्त गुण व अनन्तानन्त पर्यायो को बिना किसी क्रम के एक साथ जानता है इसलिये आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है कि—

"केवल ज्ञान सर्व द्रव्य और उनकी सर्व पर्यायो को जानता है।"[2]

इस प्रकार इसकी व्याख्या के अन्त मे आचार्य पूज्यपाद सर्वार्थसिद्धि मे कहते हैं कि "छ द्रव्यो की पृथक-पृथक तीनो कालो मे होने वाली पर्यायें अनन्तानन्त इन सब द्रव्यो और उनकी सब पर्यायो को केवलज्ञान जानता है ऐसा न कोई द्रव्य है और न पर्याय समूह है जो केवलज्ञान के विषय के बाहर हो वह नियम से अपरिमित माहात्म्य वाला है।"[3]

जगत के जीवो को बाहर के पदार्थों के ज्ञानपने की जितनी महिमा आती

१—प्रवचनसार गाथा-३६ की टीका

२—सर्व द्रव्य पर्यायेषु केवलस्य ॥१—२६॥

३—तत्वार्थ सूत्र के ॥१—२६॥ की सर्वार्थ सिद्धि टीका

तथा पुन आगे की गाथा मे कहते हैं कि यदि अनन्त पर्याय वाले एक द्रव्य को (आत्मा) नही जानता तो वह प्राणी एक ही साथ सर्व अनन्त द्रव्य समूह को कैसे जान सकेगा ।[2] उपर्युक्त गाथा से यह बात स्पष्ट हुई कि जो पुरुष अपने को जानता है अर्थात् जब आत्मज्ञ बन जाता है तब सर्वज्ञ भी अवश्य रूप से बन ही जाता है। इस प्रकार अपना और सर्व पर पदार्थों का ज्ञान एक साथ ही होता है। स्वय और सर्व इन दो मे से एक का नाम हो और दूसरे का न हो यह बात असम्भव है। किसी कवि ने कहा भी है कि—

जितना निज को परखा जिसने, उतना ही वह निखर गया है।
जितना भी जो सिमटा निजमें, उतना ही वह बिखर गया है॥

यहा पर कहने का तात्पर्य इतना ही है कि जिसने जितना भी अपने ज्ञान को पर पदार्थों से समेट कर निज मे लगा दिया तो वह ज्ञान सीमित न हुआ बल्कि केवल ज्ञान के रूप मे निखर गया।

इस प्रकार जब ज्ञेय की लुब्धता प्रगट करने वाले ज्ञेय के लोभियो को जब केवलज्ञान की महिमा बताई जाती है तो वे यह विचार करने लगते है कि उन सर्वज्ञ भगवान को सर्व पर पदार्थ जानने से कितना आनन्द आता होगा और उन प्राणियो के विचार यही तक सीमित रह जाते है। लेकिन आज हम जब जैन दर्शन के इतिहास रूपी समुद्र मे गोते लगाते हैं तो यह महसूस करते हैं कि अनेक दिगम्बर सन्तो ने जहा एक ओर इस अनन्त दर्शन ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रगट पर्याय केवलज्ञान की इतनी अपार महिमा गाई वही पर दूसरी ओर आचार्यों के मस्तिष्क पटल पर यह बात भी विद्यमान थी कि केवलज्ञान एक द्रव्य के अनन्त गुण की अनन्तानन्त पर्यायो मे से एक पर्याय है। जब केवलज्ञान की इतनी महिमा होती है, तो केवल ज्ञान जिसमे से उत्पन्न होता है अर्थात् जिसके आश्रय से उत्पन्न होता है उस अनादिअनन्त त्रिकाली ध्रुव की कितनी महिमा होगी।

यहा पर एक बात स्पष्ट करना उचित है कि केवलज्ञान जो पर्याय है वह अनादि अनन्त न होकर सादिअनन्त रूप है और सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो इस प्रकार की पर्याय जो उत्पन्न होती है वह सदैव एक रूप नही रहती अर्थात् आनन्द तो वैसा ही रहता है परन्तु पर्याय हर समय नवीन उत्पन्न हुआ करती है और व्यय को प्राप्त होती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वैसी पर्याय तो रहती है (ज्ञान आनन्द रूप) लेकिन वो पर्याय नही। पर्याय का स्वभाव ही उत्पाद

२–प्रवचनसार गाथा–४६

ध्यय रूप है यदि वह पर्याय एक समय के बाद परिणमन न करे तो पर्याय पर्याय न रह कर द्रव्य कहलाने लगेगी।

इस प्रकार केवल ज्ञानी की निर्मलता और विशालता इतनी है कि उसमे तीन लोक और तीन काल की ज्ञेयावलि स्पष्ट रूप अक्रम होते हुये भी केवल ज्ञानी को क्रम रूप मे प्रतिम्बित होती है तो भी उनके चैतन्य मूर्ति त्रिकाल सत् रूप आत्मा मे कोई बाधा नही होती। क्योकि पदार्थ, पदार्थ मे है और द्रव्य, द्रव्य मे है आज तक अनन्त केवली हो गये लेकिन कभी भी ऐसा नही हुआ कि एक समय मात्र के लिये पर्याय द्रव्य रूप से परिणमित हो जाये।

केवली तो एक समय मे समस्त ज्ञेयो की पक्तियो को जानता हुआ भी प्रति समय अनन्त आनन्द सुखादि का वेदन किया करता है। उसको ज्ञेयावलि प्रतिम्बित होने से नाम मात्र का भी अन्तर नहीं पडता है चाहे कोई ज्ञेय झलके या न झलके।

लेकिन हम अनन्त इच्छाओ से पूर्ण ससारीजन केवलज्ञान की अचिन्त्य महिमा सुनते है तो सुनते ही रह जाते है और हमको भी दुनियाँ के जानने के विकल्प आये विना नही रहते हैं।

इस प्रकार किसी को कोई पदार्थ जानने की आकुलता है तो किसी को जनाने की आकुलता है और यहा तक कि किसी को आकुलता मिटाने की आकुलता है लेकिन आकुलता से रहित निराकुलता स्वरूप आत्मा को प्राप्त करने की ओर लक्ष्य जाता नही क्योकि दिशा ही हमारी विपरीत है।

यदि कोई प्राणी निरन्तर ससार मे बैठकर ही इस दिशा मे अपने उद्देश्य को पूर्ण करने का प्रयत्न करे तो वह बालू मे से तेल निकालने जैसा कार्य करता है अत अनन्त महिमावत सर्वोत्कृष्ट केवल ज्ञान मे सम्पूर्ण ज्ञेयावली प्रतीविम्ब सदृश झलकती है परन्तु अनन्त गुणो से पूर्ण आत्मा को किसी भी प्रकार की बाधा सम्भव नही। सर्वप्रथम अपने को जानने का अर्थात् आत्मज्ञ वनने की ओर अपना पुरुषार्थ लगाये तो एक न एक दिन ऐसा जरूर आएगा कि आत्मज्ञ वन सर्वज्ञ भी वन जायेगा। इस प्रकार सर्वज्ञपने की महिमा वाणी के द्वारा पर्याप्त रूप से नही कही जा सकती और जितनी भी कही जाय वह अल्प ही है। यदि हमे भी केवल ज्ञान की दिव्यता जानने की वास्तविक जिज्ञासा सच्चे मन से उठी है तो अनुभव के द्वारा सर्वज्ञ बन कर ही जानी जा सकती है इसलिए हम सब भी सर्वज्ञता की अचिन्त्य महिमा को जानकर, पहिचान कर, आत्मोन्मुख होकर सर्वज्ञवत् बन जायें इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हू।

❀

—श्रीमती सरोज जैन, एम ए (ग्वालियर)

सभी पाथिक हैं चौरासी के,
कौन यहाँ रहने आया ।
व्यर्थ प्रेम है इस पडाव से,
कैसे यह रहना भाया ॥१॥

कोई घडी दो घड़ी कोई,
कुछ क्षण का मेहमान हुआ ।
सभी बनेगे चलते जग से,
यहा न कोई टिक पाया ॥२॥

बाह्य-क्रिया मे नरभव खोना,
कोई अनुपम त्याग नही ।
शह भूलकर इस पडाव मे,
पड रहना सौभाग्य नही ॥३॥

बडी भूल है यहाँ ठहरना,
रुकने मे कल्याण नही ।
यहाँ पडे रहने से कोई,
बनता है भगवान नही ॥४॥

अत इसे त्यागने का ही,
दृढ सकल्प बनाना है ।
इसे त्याग करके ही हमको,
मुक्ति बधू को पाना है ॥५॥

—෴—

महाकवि पं० दौलतराम और उनके समकालीन अन्य कवि

—अखिल बंसल, एम ए (जयपुर)

प० दौलतराम का नाम जैन समाज मे बडे ही आदर एव श्रद्धा के साथ लिया जाता है। इनके द्वारा रचित 'छहढाला' हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। इस कृति मे कृतिकार ने 'गागर मे सागर' भर दिया है।

लब्ध प्रतिष्ठित प० दौलतराम का जन्म वि० स० १८५५-५६ के मध्य हाथरस मे हुआ था। कहा जाता है कि १८५७ के गदर मे भागते समय आपकी जन्मपत्री गुम हो गई थी, अत' निश्चित जन्मतिथि के बारे मे जानकारी नही है। इनके पिता का नाम टोडरमल था जो गगटीवाल गोत्रीय पल्लीवाल जाति के थे। लोग इन्हे फतेहपुरी कहा करते थे। पण्डित जी के पिता दो भाई थे, छोटे भाई का नाम चुन्नीलाल था। दोनो भाई मिलकर हाथरस मे कपडे का व्यापार किया करते थे।

दौलतराम जी का शुभ विवाह अलीगढ निवासी चिन्तामणी बजाज की सुपुत्री के साथ हुआ था इनके दो पुत्र हुए, जिनमे बडे का नाम टीकाराम था। इनके वशज आज भी ग्वालियर मे निवास करते हैं।

जीवकोपार्जन के लिए इन्होने बजाजी का व्यवसाय चुना। वि० स० १८८२ मे मथुरा निवासी सेठ मनीराम जो किसी कार्य से प० चम्पालाल जी के साथ हाथरस आये। वहाँ प० दौलतराम जी के तत्वाभ्यास से प्रेरित होकर इन्हे अपने साथ अलीगढ ले आये। अलीगढ जाकर आपने बजाजी का कार्य छोड दिया तथा वहा छीट छापने का कार्य करने लगे। कहा जाता है कि जब आप छीट छापने बैठते थे, तब चौका पर गोम्मटसार, त्रिलोकसार, आत्मानुशासन आदि जैन सिद्धात के ग्रन्थो को रख लेते थे और छपाई के काम के साथ-साथ एक दिन मे ७०—८० गाथायें या श्लोक कठस्थ कर लिया करते थे। इससे आपकी प्रखर बौद्धिक प्रतिभा का परिचय मिलता है। हिन्दी के साथ-साथ सस्कृत पर भी आपका पूर्णाधिकार था।

समय की बात, अशुभ कर्म के उदय से आपको कुछ दुर्दिन देखना पडे। आपने धैर्यतापूर्वक कष्ट सहन करते हुए अपना अधिकाश समय विद्याभ्यास मे ही

वातावरण आपको बेहद पसन्द आया तथा यहा रहकर आपने अपना शेष जीवन व्यतीत किया। यहा आध्यात्मिक गोष्ठी, तत्व चिन्तन तथा पठन-पाठन मे आप अपने समय का सदुपयोग करने लगे।

कहा जाता है कि इन्हे अपनी मृत्यु का ज्ञान पूर्व मे ही हो गया था। स्वर्ग-वास के छ दिन पूर्व इन्होने अपने समस्त परिजनो को एकत्रित कर कहा था— 'आज के छठे दिन मध्याह्न के पश्चात मे इस शरीर से निकलकर अन्यत्र शरीर धारण करूँगा' परिजनो से क्षमा याचना करने के पश्चात् स० १६२३ मार्ग शीर्ष कृष्ण अमावस्या को मध्याह्न आपने देहली मे इस नश्वर देह का त्याग कर दिया।

दौलतरामजी की दो रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। एक तो छहढाला और दूसरी दौलत विलास (पद सग्रह) छहढाला की रचना वि० स० १८९१ मे अक्षय तृतीय के दिन पूर्ण की थी। इस कृति ने आपको अमरत्व प्रदान कर दिया। दूसरी छहढाला जो कि बुधजन जी कृत है वह भी बुधजन जी ने १८५९ की अक्षय तृतीया को ही पूर्ण की थी। दोनो मे प्रकरणो मे बहुत सा साम्य है, जो कि कार्तिकेय स्वामी की द्वादशानुप्रेक्षा आदि प्राचीन शास्त्रो के अनुसार लिखा गया है। प० दौलतराम जी बुधजन से बहुत प्रभावित थे। वे स्वय लिखते हैं—कियो तत्व उपदेश यह, लखि बुधजन की भाख' इन्होने १५० से भी अधिक पदो की रचना की है। आध्यात्मिक भावना से ओतप्रोत ये पद पाठको का मन मोह लेते है। 'हम तो कबहु न निजघर आए' 'आतम रूप अनुपम अद्भुत' 'जानत क्यो नहि रे हे नर आतम ज्ञानी, सुन ठगनी माया' आदि पद वडे ही गम्भीर एव मार्मिक है। ये पद 'देखन मे छोटे लगत घाव करत गम्भीर' को चरितार्थ कर रहे हैं। पदो की भाषा साधारण बोलचाल की खडी हिन्दी है। जहाँ-तहाँ इनके पदो मे ब्रज भाषा के भी दर्शन हो जाते है। पदो मे सस्कृत शब्दो की प्रचुरता होते हुए भी इनके पदो मे सरसता है। प्रसाद एव माधुर्य गुणो के साथ-साथ अलकार भी कही-कही देखने को मिल जाते हैं। भाव भाषा की दृष्टि से छहढाला अद्वितीय कृति है।

समकालीन अन्य विद्वान

कविवर प० दौलतराम जी के समकालीन विद्वानो मे रत्नकरण्ड श्रावकाचार वचनिका के कर्ता प० सदासुखदास जी, बुधजन विलास के कर्ता बुधजन, तीस-चौबीसी के कर्ता वृन्दावन, प्रसिद्ध भजनो के रचयिता प० भागचन्द, चन्द्रप्रभकाव्य की वचनिका के कर्ता तनसुखदास, कृपण जगावन चरित्र के कर्ता छत्रपति तथा प० वक्तावरमल आदि प्रमुख है। कतिपय विद्वानो की सक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है—

विक्रम की १९वी २०वी शताब्दी के प्रमुख विद्वानो मे प० सदासुखदासजी अग्रणी हैं। ये तेरापंथ आम्नाय के प्रबल समर्थक थे। इनके पिता श्री दुलीचन्द जी जयपुर मे निवास करते थे जो खण्डेलवाल जातीय कासलीवाल गोत्रीय थे। वे डेडराज वश मे उत्पन्न हुए थे।

सदासुखदास जी का जन्म वि० स० १८५२ के लगभग हुआ जान पडता है। क्योकि आपकी रत्नकरण्डश्रावकाचार की टीका वि स १९२० की चैत्र कृष्णा चतुर्दशी को पूर्ण हुई थी। इसकी प्रशस्ति मे आपने अपनी आयु उस समय ६८ वर्ष की वताई है।

अर्थ प्रकाशिका की वचनिका मे आपने अपना परिचय देते हुए लिखा है—

> डेडराज के वश माहि इक किंचित् ज्ञाता।
> दुलीचन्द का पुत्र कासलीवाल विख्याता॥
> नाम सदासुख कहे आत्मसुख का वहु इच्छुक।
> सो जिनवाणी प्रसाद विषयते भये निरिच्छुक॥

प० सदासुख जी जयपुर के राजा मानसिंह के यहाँ राज्य के खजान्ची पद पर कार्यरत थे। यहाँ से आपको ८ रु० माहवार मिला करता था, जिससे आप अपना जीवन निर्वाह किया करते थे। आप कितने अधिक सतोषी थे, यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि राज्य मे ४० वर्षो मे इनके अतिरिक्त सभी कर्मचारियो का वेतन लगभग चौगुना हो गया। परन्तु उनका वेतन वही आठ रुपया ही रहा। जब राजा को उक्त तथ्य की जानकारी मिली तो उन्होने सदासुख जी को बुलाकर कहा— मुझ से भूल हुई है, अब आपका वेतन आज से २०/- महावार रहेगा तथा आपको अन्य जो आवश्यकता हो उसे भी मैं पूरा करूंगा। परम सतोषी प० सदासुख जी ने कहा — महाराज मैं इस समय रत्नकरण्डश्रावकाचार की टीका लिख रहा हूँ, अत. मुझे ८ घण्टे कार्य करने की अपेक्षा ६ घण्टे कार्य करने दिया जाये तथा उसी हिसाब से मेरा वेतन ८-०० मासिक से घटाकर ६-०० मासिक कर दिया जाये। इस कथन का राजा के ऊपर बहुत प्रभाव पडा। उन्होने इन्हे ६ घण्टे कार्य करने की अनुमति दे दी तथा वेतन भी नही घटाया। इस घटना से पण्डितजी की सन्तोषवृत्ति तथा धार्मिक साहित्य के निर्माण के प्रति अनुराग स्पष्ट दृष्टिगोचर होता हे।

पण्डित जी के गार्हस्थ जीवन के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी उपलब्ध नही है। कहा जाता है कि इनका एक पुत्र था; जिसका नाम गणेशीलाल था। यह भी अपने पिता के अनुरूप होनहार एव विद्वान था। परन्तु दुर्भाग्य ने शीघ्र ही पण्डित जी को

पुत्रसुख से वचित कर दिया। २० वर्ष की अल्पायु मे ही उनके पुत्र की मृत्यु हो जाने से इन्हें बहुत आघात लगा तथा वे इस दुख से विचलित हो गये। अत अजमेर निवासी सेठ मूलचन्द जी सोनी इन्हे अपने साथ जयपुर से अजमेर ले आये। वहा इन्हे कुछ शाति का अनुभव हुआ। प० सदासुख जी अपने युग के प्रकाण्ड विद्वान थे। आप बडी ही सरल प्रकृति, आत्मनिर्भय आध्यात्मिक, धार्मिक लगन तथा सदाचारी व्यक्तित्व के धनी थे। जिनवाणी पर आपको असीम श्रद्धा थी। उसके प्रचार-प्रसार के लिए आपने कोई कसर नही उठा रखी। आपका अधिकाश समय शास्त्र स्वाध्याय, तत्व चिंतन पठन-पाठन तथा लेखन मे व्यतीत होता था। पण्डित जी के व्यक्तित्व के ऊपर उनके गुरु प० मुन्नालाल जी तथा प्रगुरु प० जयचन्द जी छावडा का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। आपके शिष्यो मे प० पन्नालाल जी मघी, नाथूराम दोषी, प० पारसदास निगोत्या अपना विशेष स्थान रखते हैं। प० पारसदास ने 'ज्ञान सूर्योदय नाटक' की टीका मे सदासुखदास जी के स्वभाव और गुणो पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। उक्त पक्तियो का कुछ अ श यहाँ प्रस्तुत है।

लौकिक प्रवीना तेरापथ मोहि लीना,
मिथ्या बुद्धिकरि हीना जिन आतम गुण चीना है।

पढे औ पढावे मिथ्या अलट कू कढावै,
ज्ञान दान देय जिन मारग बढावै है॥

दीखे घरवासी घर हुते उदासी,
जिन मारग प्रकाशी जग कीमत जगभासी है।

कहा कही जे गुण सागर सुखदास जुके,
ज्ञानामृत पाय बहु मिथ्या बुद्धि नासी है॥

पण्डित जी के परलोकवास के समय के बारे मे ठीक ठाक जानकारी नही है। रत्नकरण्डश्रावकाचार वचनिका जो वि स १९२० मे चैत्र कृष्ण चतुर्दशी के दिन पूर्ण हुई थी, मे पण्डित जी ने अपनी आयु उस समय ६८ वर्ष होना बताई है। जिसके पश्चात् अनुमानत वे २–३ वर्ष और जीवत रहे होगे चू कि यह उनकी अन्तिम कृति थी, अत इसी के आधार पर विद्वानो ने इनका स्वर्गवास स १९२३ का माना है।

पण्डित सदासुखदास जी ने अपना सारा जीवन साहित्य साधना मे लगा दिया। सस्कृत प्राकृत के जैन ग्रन्थो का हिन्दी भाषा मे अनुवाद कर आपने जैन समाज पर महान् उपकार किया है। अभी तक आपकी ७ कृतिया प्रकाश मे आई हैं जो इस प्रकार हैं —

१ अर्थ प्रकाशिका टीका
२ भगवती आराधना टीका
३. समयसार नाटक टीका
४. अकलक स्तोत की टीका
५ नित्य नियम पूजा सस्कृत की टीका
६ तत्वार्थ सूत्र की लघु टीका
७. रत्नकरण्डश्रावकाचार की टीका

पण्डित जी की भाषा ढूढारी होने पर भी वह खडी बोली के अधिक निकट है। भगवती आराधना की प्रशस्ति को निम्न पक्तियो मे देखिये —

> मेरा हित होने की और, दीखे नाहि जगत मे ठौर।
> याते भगवति शरण जू गही, मरण आराधना पाऊँ सही ।।
> हे भगवति तेरे परसाद, मरणसमैं मति होहु विषाद ।
> पच परमगुरु पद करि ढोक, सयम सहित लहु परलोक ।।

कविवर बुधजन—

जयपुर निवासी कविवर बुधजन का पूरा नाम विरधीचन्द था। ये ब्रज गोत्रीय खण्डेलवाल जाति के थे। इनका साहित्यिक जीवन स १८५४ से १८९५ तक रहा। इनके द्वारा रचित 'छहढाला' बहुत सुन्दर कृति है। अब तक आपकी १७ रचनाये प्राप्त हुई हैं। तत्वार्थबोध स० १८७१, बुधजन सतसई १८८१, सुबोध पंचास्तिकाय स० १८९१, बुधजन विलास स० १८९२, सुबोध पचासिका स० १८९२ एव योगसार स० १८९५ प्रमुख कृतिया है।

बुधजन विलास इनकी सर्वाधिक चर्चित कृति है, इसमे निम्न चार प्रकरण है :—

१ देवानुराग शतक
२. सुभाषित नीति
३ उपदेशाधिकार
४ विराग भावना

> मेरे अवगुन जिन गहौ, मैं औगुन को धाम।
> पतित उद्धारक आप हो, करो पतित को काम ।।

उपर्युक्त पक्तियाँ देवानुराग शतक प्रकरण के अन्तर्गत लिखी गई हैं। इन पक्तियो मे भक्ति की महत्ता और भक्त की भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

सुभाषित नीति के प्रकरण मे भी बुधजन ने लगभग २०० दोहे लिखे है जो कि एक से एक सुन्दर हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है जो इनके अद्भुत ज्ञान और सासारिक अनुभवो को दर्शाता है।

पर उपदेश करन निपुन ते तो लखे अनेक।
करैं समिक बोले समिक, तैं हजार मे एक॥

उपदेशाधिकार का यह पद भी दृष्टिव्य है—

दुर्जन सज्जन होत नहिं, राखो जो रथवासा।
मेल्यो सग कपूर मे, हीग न होत सुवासा॥

इसी प्रकार —

'बुधजन-विलास' मे कवि की फुटकर रचनाए एव पद सग्रहित हैं। अब तक आपके लगभग २६५ पद प्राप्त हो चुके है जो अद्वितीय हैं।

कवि ने अपनी रचनाए साधारण बोलचाल की भाषा मे की हैं, कही-कही व्रज भाषा का पुट भी दिखाई देता है। कविताओ मे मारवाडीपन का भी समावेश है। बुधजन जी की कविताओं के आधार पर कहा जा सकता है कि वे उच्च कोटि के कवि थे।

श्री प० वृन्दावनदास जी —

प० बृन्दावनदास जी का जन्म स० १८४८ मे शाहाबाद जिले के बारा नामक ग्राम मे हुआ था। इनके पिता का नाम धर्मचन्द तथा माता का नाम सिताबी था। उनके पिता एक अच्छे कवि थे, इस प्रकार कविता करना इन्हे विरासत मे मिला था। काशी मे इनकी ससुराल थी, वहाँ टकसाल का कार्य होता था।

एक बार की बात है, एक अग्रेज टकसाल देखने आया। पण्डित जी उस समय वहाँ मौजूद थे। उन्होने टकसाल दिखाने से मना कर दिया। इस अग्रेज कुपित हो गया। समय बीतता गया। कुछ समय पश्चात् बृन्दावन जी खजान्ची का कार्य करने लगे। भाग्य की बात है वह अग्रेज कलेक्टर होकर आ गया। उसने पण्डित जी को पहचान लिया तथा अपना बदला लेने के लिए उन पर झूठा आरोप लगाकर उन्हे तीन माह का कारावास दिलवा दिया। इससे पण्डितजी को बडा आघात पहुँचा। कारावास मे वे अधिकाश समय भगवत भजन एव लेखन मे व्यतीत करते थे। एक दिन वे "हे दीनबन्धु श्रीपति करुणा निधान जी" वाली स्तुति पढ रहे थे। वही अग्रेज अधिकारी उस समय निरीक्षण के लिए आया हुआ था। कविवर की भक्ति

भावना से वह बहुत प्रभावित हुआ और उन्हे छोड दिया। इस प्रकार उन्होने अपना सारा जीवन भगवत आराधना एव आध्यात्मिक साहित्य सृजन मे लगा दिया।

आपके द्वारा रचित निम्न कृतिया है —

१ प्रवचनसार टीका
२ चतुर्विशति जिन पूजा-पाठ
३ तीस चौबीसी पूजा
४ छन्द शतक
५ वृन्दावन विलास
६ अरहन्तपासा केवली

इनके काव्य का नमूना प्रस्तुत है —

हमारी विरिया काहे करत अवार जी।
इस दरबार दीन पर करुना होत सदा चलि आई जी ।।
मेरी विद्या विलोकि हे प्रभु, काहे सुधि बिसराई जी।
मै तो चरन कमल को किंकर, चाहूँ पद सेवकाई जी ।।
हे प्राणनाथ तजो नहि कबहूँ, तुम सो लगन लगाई जी।
अपनो विरद निवाही दयानिधि, दे सुख वृन्द वडाई जी ।।

वृन्दावन जी की भाषा पर पूर्वी भाषा का प्रभाव है। भक्ति की उच्च भावना तथा धार्मिक सजगता इनके पदो मे विद्यमान है, निराशा के पश्चात् आशा का सन्देश तथा आराध्य मे अटूट विश्वास इनके पदो की जान है। नीति और ज्ञानोपदेशक पदो मे जैनागम का मर्म कूट-कूट कर भरा है।

धन धन श्री गुरु दीनदयाल।
परम दिगम्बर सेवाधारी, जगजीवन प्रतिपाल।
मूल अठाइस चौरासी लख, उत्तर गुण मनिमाल ।।धन०।।
देह भोगभय सो विरक्त नित, परिसह सहत त्रिकाल ।।धन०।।
शुद्ध उपयोग जोग मुदमडित, चाखत सुरस रसाल ।।धन०।।

वृन्दावन जी की वर्णन शैली अत्यन्त सरल एव बोधगम्य है। समाज को इन पर गर्व है।

१० भागचन्द जी —

बीसवी शताब्दी के कवियो मे भागचन्द जी का भी अगना स्थान है। ये ईसागढ, जिला—गुना, म० प्र० के निवासी ओसवाल जैन थ। सस्कृत एव हिन्दी दोनो पर

आपका समान अधिकार था। अब तक इनकी ६ रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं—

१ उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला
२ प्रमाण परीक्षा भाषा
३ नेमिनाथ पुराण भाषा
४- अमितगति श्रावकाचार भाषा
५ ज्ञान सूर्योदय नाटक टीका
६ महावीराष्टक स्तोत्र सस्कृत

उपरोक्त सभी रचनाए स० १६०७ से १६१३ तक की है। कवि के अब तक ८६ पद उपलब्ध हो चुके है जो सभी अपने आप मे महत्वपूर्ण एव उच्चस्तरीय हैं। आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध मे उन्होने अपने सुलझे विचार पदो मे व्यक्त किये हैं। 'सुमर सदा मन आतम राम'। तथा 'जव निज आतम अनुभव आवे तव और कछू न सुहावै इनके पद वहुत ही मार्मिक है। ससार की अवास्तविकता का चित्रण करते हुए कवि कहता है '—

जीव तू भ्रमत सदैव अकेला।
सग साथी कोई नही तेरा ॥
अपना सुख-दु ख आप भुगते होत कुटुम्व न भेला।
स्वार्थ गये सब बिछुरि जात है, विघट जात यो मेला ॥
रक्षक कोई न पूरन है जब आयु अन्त की वेला।
फटत पर वधति नहिं जैसे दुद्धर जल को ठेला ॥२॥
तन धन जीवन विनश जात ज्यो, इन्द्रजाल को खेला।
भागचन्द इमि सीख मानकर हो सतगुरु का चेला ॥३॥
जीव तू भ्रमत सदैव अकेला।

छत्रपति —

इनका जन्म समय स० १८७२ से १६२५ तक माना जाता है। ये अवागढ के निवासी थे। आपकी मुख्य रचनाओ मे 'कृपण जगावन चरित्र' मुख्य है। इस कृति मे तुलसीदास के समकालीन कवि ब्रह्मगुलाल के चरित्र का सुन्दर वर्णन किया गया है। अभी इनकी एक कृति 'मनमोहन पचशती' और प्रकाश मे आई है। इस रचना मे ५१३ पद्य हैं। जिनमे दोहा, चौपाई तथा सवैयो का प्रयोग किया गया है।

इनके अतिरिक्त छत्रपति जी के हिन्दी के लगभग १६० पद्य और उपलब्ध हुए है। सभी पद्य उच्च स्तर के है। कही-कही क्लिष्टता अवश्य आ गई है। इनकी शैली का उदाहरण इस पद मे प्रस्तुत है '—

आज नेम जिन वदन विलोकत
विरह व्यथा सब टूट गई जी ।
बदन चंद समीर नीर ते
अधिक शान्तिता हिए भई जी ॥आज०॥१॥
भव तन भोग रोग सम जाने ।
प्रभु सम होन उमग भई जी ॥आज०॥२॥
छत्र सराहत भाग्य आपनो ।
राजमति प्रतिबोध भई जी ॥आज०॥३॥

इनके अतिरिक्त दौलतराम जी के समकालीन कवियो मे तनसुखदास जी तथा बख्तावरमल जी भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते है ।

महावीर-वाणी

भगवान महावीर की वाणी मे जिस सत्य का उद्घाटन हुआ उनकी वाणी मे सवर्दोयतीर्थ का प्रस्फुटन हुआ, उसका सक्षिप्त सार इस प्रकार है –

- प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है । कोई किसी के अधीन नहीं है ।
- सब आत्मायें समान हैं । कोई छोटा बडा नही ।
- प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञान और सुखमय है । सुख कही बाहर से नही आता है ।
- आत्मा ही नही, प्रत्येक पदार्थ स्वय परिणमनशील है । उसके परिणमन मे परदार्थ का कोई हस्तक्षेप नही है ।
- सब जीव अपनी भूल से ही दुःखी हैं और स्वय अपनी भूल सुधार कर सुखी हो सकते हैं ।
- अपने को नही पहचानना ही सबसे बडी भूल है तथा अपना सही स्वरूप समझना ही अपनी भूल सुधारना है ।

('भगवान महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ' से साभार)

१७वीं शताब्दी में रचित हिन्दी का एक अज्ञात काव्य

—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवा

१७वी एव १८वी शताब्दी को हिन्दी जैन काव्य निर्माण की दृष्टि से स्वर्ण काल कहा जा सकता है। इन दो शताब्दियो मे हिन्दी के जितने जैन कवि हुये, और उन्होने मौलिक कृतियो का सृजन किया वह अपने आप मे एक अनूठा उदाहरण है।

महाकवि ब्र० रायमल्ल, जिनदास पाण्डे, राजमल्ल पाण्डे, महाकवि बनारसीदास, जोधराज गोदीका, महाकवि भूधरदास, भट्टारक रत्नकीर्ति, भट्टारक कुमुदचन्द्र भगवतीदास, बुलाकीदास जैसे—पचासो कवि इन दो सौ वर्षो मे हुये जिन्होने हिन्दी मे चरितकाव्य, पुराणकाव्य, आध्यात्मिक नाटक एव अन्य प्रकार का सृजन करके एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। यही नही उस युग मे हिन्दी भाषा के पठन-पाठन को भी अत्यधिक लोकप्रिय बनाया। लेकिन हिन्दी का हमारा वह विशाल साहित्य अभी तक चिर उपेक्षित रहा और प्रकाशन के अभाव मे उसे हिन्दी साहित्य के इतिहास में कोई स्थान नही मिल सका।

बडी प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी के सम्पूर्ण जैन साहित्य को प्रकाश में लाने के लिये जयपुर मे श्री महावीर-ग्रन्थ-अकादमी की स्थापना की गई है। तथा जिसकी ओर से जैन कवियो पर २० भाग निकलेगे। जिनमे अब तक दो भाग—महाकवि ब्र० रायमल्लजी एव भट्टारक त्रिभुवनकीर्ति तथा कविवर बूचराज एव उनके समकालीन कवि प्रकाशित हो चुके हैं। अकादमी की इस योजना मे हिन्दी के सैकडो चिर उपेक्षित एव अप्रकाशित काव्य प्रकाश मे आ सकेंगे, ऐसा हमारा विश्वास है।

प्रस्तुत लेख मे हिन्दी के एक अज्ञात काव्य पर प्रकाश डाला गया है।

हिन्दी का यह अज्ञात काव्य है, "पार्श्वनाथरास" जो ब्र० वस्तुपाल की कृति है। काव्य की पाण्डुलिपि मे ३६ पत्र हैं जो —९॥×६ इन्च आकार के है। रास का रचनाकाल है स० १६५६ फाल्गुन सुदी १० बुधवार। लेकिन पाण्डुलिपि का लेखन काल नही दिया है लेकिन वह १८ वी शताब्दी की ज्ञात होती है।

पार्श्वनाथरास प्रबन्ध काव्य है जिसमे २३ वे तीर्थंकर के जीवन की यशोगाथा छन्दोवद्ध की गयी है। कथा भगवान महावीर के मुख से कहलायी गई है, तथा कथा के श्रोता है मगध देश के सम्राट महाराजा श्रेणिक। कथा महाराजा अरविन्द से प्रारम्भ होती है जो पोदनपुर के राजा थे। विश्वभूति उनके पुरोहित पद पर नियुक्त था। उनके दो पुत्र थे एक था कमठ, दूसरा मरुभूति। कमठ का जीवन विषयो मे फसा था, जबकि मरुभूति स्वभाव मे न्यायशील एव सात्विक गुणो से सम्पन्न था। विश्वभूति द्वारा सयम लेने के पश्चात् पुरोहित का पद मरुभूति को दिया गया। लेकिन मरुभूति शत्रु पर विजय प्राप्त नही कर सका। इसलिये पुरोहित का पद कमठ को सौप दिया। कमठ के पास शासन आते ही वह अनीति का शासन करने लगा।

एक दिन वह अपने भाई की पत्नी का रूप लावण्य देखकर अपनी सीमा खो बैठा, और समझाने पर भी नही समझ सका।

राजा ने उसके आचरण से दु खी होकर उसे देश निकाला दे दिया। कमठ भी दु खी हुआ और शिला को सिर पर रखकर तपस्या करने लगा। उसकी तपस्या से प्रभावित होकर जब उसका भाई मरुभूति उसके दर्शनार्थ आया तो उसने क्रोध से वही शिला उस पर पटक दी। मरुभूति तत्काल वही मर गया।

यही से दोनो भाईयो का वैर चलता है। कथा बडी रोचक है। एक जन्म का वैर न जाने कितने अगले भव तक चलता है इसी मान्यता के प्रसग मे राय की कथा निवद्ध की गई है। प्रस्तुत 'रास" जैनधर्म के कर्म सिद्धात पर आधारित है।

भाषा—

काव्य की भाषा गुजराती प्रभावित राजस्थानी है। क्योकि काव्य का निर्माण स्थल ईडर गुजरात ही है। इसलिये गुजराती का प्रभाव होना आवश्यक है।

स्थान—

इसका रचनास्थल ईडर का सभवनाथ स्वामी का मदिर है। जिसके सम्बन्ध मे कवि ने निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

राय देश निवासतो, ईडर नगर सोहामणो।
तिहा चितालु सार तो सभवनाथ स्वामी तणु ए ॥

गुरु परम्परा—

ब्र० वस्तुपाल—भट्टारक सकलकीर्ति की परम्परा के ब्रह्मचारी थे उन्होने निम्न प्रकार उल्लेख किया है.—

भट्टारक सकलकीर्ति
" भुवनकीर्ति
" ज्ञान भूषण
" विजय कीर्ति
" शुभचन्द्र
" सुमति कीर्ति
" गुण कीर्ति
ब्र० वस्तुपाल

कवि ने भ० गुणकीर्ति के साथ भ० वादिभूषण का भी स्मरण किया है और लिखा है कि दोनो के प्रसाद से ही प्रस्तुत रास का निर्माण किया जा सका।

सुमति कीरति माहलतो, गुण कीरति गुणावसए।
तेहना प्रणमु पायतो, मति-बुद्धि प्रसावयस ए।
अनुदिन जपू तेह नाम तो, वादीभूषण सहित सदाए।
करयो बहुत पसाय तो ब्रह्म वस्तुपाल बोलि मुद्राए।

रचना काल—

राय का रचना काल स० १६५६ फाल्गुन शुक्ला १० वी बुधवार है। उस समय अष्टान्हिका पर्व चल रहा था। तथा कवि ने उसी पर्व में अपने काव्य की रचना समाप्त की थी।

सवत् १६ छपना तणी, फागुण मास रसाल।
शुक्ल पक्ष ते दशमी, बुधवार गुण माल॥

पूरा काव्य ८०० श्लोक प्रमाण हैं। तथा वस्तु भास चोपनी, दूहा, ढाल, चन्द्रापणनी, ढाल मागीतु गीनी गीतनी, ढाल राज मितीना, गतिनी, ढाल पांचमी, राग सामेरी, ढाल मुणसुंदरेनी, ढाल पटोल-डीनी, ढाल आणदानी, भास-हिंडोलीनी, ढाल महीनी, ढाल रासनी, ढाल वादली, ढाल अविनानी, ढाल रनादेवीनी, जैसी ढालो एव रागो मे पूरा-राम काव्य निबद्ध हैं। यह एक प्रकार से गीत काव्य है। जो उस समय गाया जाता रहा था।

कवि ने एक ढाल का एक ही प्रयोग किया है। उसको दुबारा प्रयोग नहीं किया जिसमे ज्ञात होता है कि कवि राग एवं गीति काव्य लिखने में बहुत चतुर थे।

काव्य के आरम्भ मे जो मगलाचरण किया उसमें भगवान महावीर का गुणानुवाद के पश्चात् अपने गुरुओं का स्मरण किया है। तथा अन्त में गुण-कीर्ति के चरणों में सादर विनयाञ्जलि प्रस्तुत करते हुये काव्य को प्रारम्भ किया है।

मगलमय मगलकरण वीतराग विज्ञान।
नमो ताहि जाते भये अरहतादि महान ॥

●

तीन भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिव स्वरूप शिवकार, नमहुँ त्रियोग सम्हारिकैं ॥

भगवान महावीर के निर्वाण कल्याणक
के शुभ अवसर पर

हार्दिक शुभकामनाएं

सौ० सेठ हीरालाल माणिकचन्दजी पाटोदी

मु० पो० लोहारदा, जिला देवास (म० प्र०)

अपनी निधि तो अपने मे है, वाह्य वस्तु मे व्यर्थ प्रयास।
जग का सुख तो मृग तृष्णा है, झूठे है उसके पुरुषार्थ ॥

नमः श्री वर्द्धमानाय निर्धूत कलिलात्मने।
सालोकाना त्रिलोकाना यद्विद्या दर्पणायते ॥

अन्तिम तीर्थंकर शासननायक भगवान महावीर
के निर्वाण महोत्सव के पावन प्रसंग पर
रत्नत्रय के दीप जलाने की
शुभ कामना करते हैं

श्री दि. जैन मुमुक्षु मण्डल खण्डवा (म. प्र.)

ज्यो मन विषयों में रमे, त्यो हो आतम लीन।
शीघ्र मिले निर्वाण पद, धरे न देह नवीन ॥

—दीपमालिका मंगलमय हो—

मे॰— श्यामलाल गेंदालाल जैन पुजारी
किराना एण्ड ग्रेन आइलसीड्स मर्चेन्ट,
खनियाधाना (म. प्र)

मे॰— शिखरचन्द संजयकुमार जैन पुजारी
ग्रेन सीड्स मर्चेन्ट
खनियाधाना (म. प्र.)

मे॰ पुजारी मेडीकल स्टोर
खनियाधाना (शिवपुरी) म॰ प्र॰

शुद्ध चेतना सिन्धु हमारो रूप है।

भगवान महावीर के निर्वाणोत्सव पर हमारी

हार्दिक शुभकामनाएँ

फूलचन्द विमलचन्द झांझरी

● गोयल इन्डस्ट्रीज
● प्रदीप एण्ड कम्पनी

चिमनगंज मण्डी
उज्जैन (म॰ प्र॰)

फोन · निवास 284
फैक्ट्री 913

जो राग-द्वेष विकार वर्जित, लीन आतम ध्यान में।
वे वर्द्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में॥

वस्तु विचारत ध्यावते, मन पावे विश्राम ।
रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभव याको नाम ॥

भेद ज्ञान प्रकट करने की मंगल शुभकामनाएं

राजकुमार जैन

पिपरई गांव (गुना), म० प्र०

तातै जिनवर कथित तत्व अभ्यास करीजे ।
संशय-विभ्रम-मोह-त्याग आपो लखि लीजे ॥

भेद-ज्ञान दीपक जलाकर हम सभी निर्वाण पथ पर
अग्रसर हो ऐसी शुभकामना है—